ओ३म्
उपनिषद् - दीपिका
आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालंकार

ओ३म्

उपनिषद् - दीपिका

[आठ उपनिषदों की सरस कथा]

लेखक

आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार
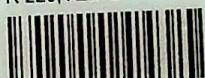
सम्पादक

आचार्य ब्र० नन्दकिशोर

अनीता आर्ष प्रकाशन

५००/२ हलवाई हट्टा, पानीपत (हरियाणा)

प्रकाशक :-

अनीता आर्ष प्रकाशन
जगन्नाथ विहार, पानीपत (हरयाणा)
फोन - (०१७४२) ४०२९१

वितरक :- विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क दिल्ली - ११०००६

संस्करण : प्रथम, सन् २०००

मूल्य : ७०.०० रुपये

शब्द संयोजन : **भगवती लेज़र प्रिंट्स,**
नई दिल्ली-६५, दूरभाष : ६४१४३५९

मुद्रक : **राधा प्रेस**
कैलाशनगर, दिल्ली-३१

भूमिका

'उपनिषद्' शब्द उप और नि उपसर्गपूर्वक षद् धातु से बनता है। 'उप' समीप अर्थ में है और 'नि-षद्' का अर्थ है बैठना। जिसमें गुरु और शिष्य समीप बैठकर अध्यात्मज्ञान की चर्चा करते हैं, उस शास्त्र का नाम 'उपनिषद्' है।[1] इसे 'उपनिषद्' इस कारण भी कहते हैं, क्योंकि इससे शिष्य ब्रह्म के समीप बैठने के अधिकारी हो जाते हैं।[2]

अत्यधिक आकर्षक, मञ्जुल और सरल शैली से अध्यात्म विद्या के गहनतम रहस्यों को हृदयङ्गम करानेवाली, संस्कृत साहित्य की अनुपम निधि उपनिषदों ने न केवल भारत में, किन्तु विदेशों में भी महती ख्याति अर्जित की है। दाराशिकोह द्वारा किये गये फारसी अनुवाद से लेटिन भाषा में अनूदित कुछ उपनिषदों को पढ़कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा था कि इनसे मुझे अपने जीवन में अद्भुत शान्ति मिली है और मृत्यु के पश्चात् भी ये मुझे शान्ति देती रहेंगी। सचमुच चिरकाल से उपनिषदें जन-जन का हृदयहार बनी हुई हैं और अनेक लोग इन्हें पढ़ने के लिए ही संस्कृत भाषा सीखते हैं।

उपनिषदों की संख्या वैसे तो दो-सौ से भी अधिक है, किन्तु प्रसिद्ध उपनिषदें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर ये ११ मानी जाती हैं। शङ्कराचार्य ने इन्हीं पर भाष्य लिखा है। शङ्कर के अद्वैतवाद का उपनिषदें ही आधार रही हैं। भारतीय दार्शनिकों ने अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अपने-अपने अभिमत के अनुसार इन पर टीकाएँ लिखी हैं, परन्तु असल में उपनिषद् के ऋषियों का लक्ष्य किन्हीं दार्शनिक रहस्यों पर ऊहापोह न करके अपने हृदय की अनुभूति को प्रकट करना है। एक वाक्य में कहें तो उपनिषदें मानव को अपने अन्दर झाँकने की या अध्यात्म के प्रति अन्तर्मुख होने की प्रेरणा देती हैं।

---

१. उप गुरोः समीपे निषीदन्ति उपविशन्ति अध्यात्मज्ञानग्रहणाय शिष्या यत्र सा उपनिषद्।

२. उप ब्रह्मणः समीपे निषीदन्ति उपविशन्ति शिष्या यया सा उपनिषद्।

रोचक शैली

उपनिषदें बड़ी ही रोचक शैली से अपने प्रतिपाद्य विषय को रखती हैं। उपनिषत्कार बताना चाहता है कि जगत् में प्रत्येक क्रिया ब्रह्म के द्वारा हो रही है, तो वह हमें दर्शनशास्त्र की गहन गुत्थियों में न डालकर हमारे सामने एक कहानी प्रस्तुत कर देता है। "ब्रह्म ने विजय प्राप्त की। उसकी विजय से सब देवों की महिमा बढ़ गई। देवों को अभिमान हो गया। वे समझने लगे कि यह हमारी ही विजय है। ब्रह्म ने सोचा कि इनका अभिमान चूर करना चाहिए। वह यक्ष के रूप में उनके सामने प्रकट हुआ, किन्तु देव नहीं जान सके कि यह यक्ष कौन है। उन्होंने 'अग्नि' को कहा—जाओ, पता लगाकर आओ कि यह यक्ष कौन है? अग्नि दौड़कर उसके पास गया। ब्रह्म ने पूछा—तुम कौन हो? अग्नि ने गर्व से कहा—मेरा नाम 'अग्नि' है, मुझे 'जातवेदस्' भी कहते हैं। ब्रह्म ने पूछा—तुममें क्या शक्ति है? अग्नि बोला—भूमि पर जो कुछ है, उसे मैं जला सकता हूँ। ब्रह्म ने उसके आगे एक तिनका रख दिया और कहा इसे जलाकर दिखाओ। अग्नि ने पूरी शक्ति लगा दी, पर उसे न जला सका। वह लौट आया और देवों से बोला—मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है? तब देवों ने 'वायु' को भेजा। वायु के आगे भी ब्रह्म ने तिनका रख दिया और कहा कि इसे उड़ाकर दिखाओ। पर वायु उसे न उड़ा सका और लौट आया। फिर देवों ने अपने राजा इन्द्र को भेजा। पर इन्द्र के सामने से वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र उसे आकाश में खोजता फिरा। अन्त में उसे 'उमा' के दर्शन हुए, जिसने इन्द्र को बताया कि यह ब्रह्म है, इसी की विजय से तुम महिमाशाली हुए हो। तुममें जो महिमा है वह तुम्हारी अपनी नहीं है, अपितु ब्रह्म की ही दी हुई है।" इस कथानक द्वारा कैसी रोचक शैली से उपनिषद् के ऋषि ने यह तथ्य समझाया है कि प्रकृति में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि सब देव ब्रह्म से शक्ति पाकर ही कार्य कर रहे हैं। (केन उप०, खण्ड ३)

शरीर में वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र आदि को अभिमान हो जाता है कि हम ही शरीर को धारण कर रहे हैं। वरिष्ठ प्राण उन्हें कहता है कि मोह में न पड़ो, असल में मैं ही हूँ जो प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच रूपों में स्वयं को विभक्त करके इस

शरीर को धारण करता हूँ। जब उन्हें उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ, तब प्राण अभिमान से बाहर निकलने लग गया। उसके निकलना आरम्भ करते ही उसके साथ-साथ सब घिसटकर बाहर निकलने लगे, जब वह प्रतिष्ठित हो गया, तब सब प्रतिष्ठित हो गये। यहाँ प्राण की महत्ता उपनिषत्कार ने कैसी चतुराई से प्रदर्शित की है। (प्रश्न उपनिषद्, प्रश्नोत्तर २)

उपनिषद् का ऋषि पुरुष-शरीर की श्रेष्ठता दर्शाना चाहता है तो यह कहानी घड़ देता है—"अग्नि, वायु, आदित्य आदि ने परमात्मा को कहा कि हमें घर दो, जिसमें रहकर हम भोगों को भोगें। उनके सामने परमात्मा 'बैल' को लाया, किन्तु उन्होंने कहा इससे हमारा काम नहीं चलेगा। फिर 'घोड़े' को लाया। उसे देखकर भी वे बोले—इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा। अन्त में जब 'पुरुष' का शरीर उनके सामने लाया, तब वे उछल पड़े, यह सुरचित है, यह सुरचित है। 'अग्नि' वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया। वायु प्राण बनकर नासिका-छिद्रों में प्रविष्ट हो गया। आदित्य चक्षु बनकर नेत्र-गोलकों में प्रविष्ट हो गया।"

(ऐतरेय उपनिषद्, अध्याय १, खण्ड २)

उपनिषद् का ऋषि यह बताना चाहता है कि मरणोत्तर मनुष्यों की क्या गति होती है, तो वह यम और नचिकेता की रोचक कहानी रच देता है, जिसमें कहानी की कला पूर्ण रूप से निखर उठी है और जो आज भी पाठकों के लिए वैसी ही नवीन है, जैसी कई शताब्दियों पूर्व थी, तथा कथा के सूत्र में पिरोये हुए गम्भीर रहस्यों के मोती जिसमें अपनी अनुपम आभा प्रदर्शित कर रहे हैं। कथा-कथा में ही यम ने नचिकेता को सारी योगविधि सिखा दी है और जीवात्मा तथा ब्रह्म के दर्शन करा दिये हैं।

प्रश्नोत्तर

जिज्ञासु से प्रश्न करवाकर अधिकारी विद्वान् द्वारा उसके उत्तर दिलाना ज्ञान-प्रदान की एक उत्कृष्ट विधा है। उपनिषदों में इस शैली के पदे-पदे दर्शन होते हैं। केनोपनिषद् प्रश्न से ही प्रारम्भ होती है। जिज्ञासु शिष्य प्रश्न करते हैं—मन किससे प्रेरित होकर मनन-क्रिया करता है? किससे नियुक्त होकर प्राण अपना व्यापार करता है? वाणी किससे प्रेरणा पाकर भाषण करती है? कौन-सा देव है, जो श्रोत्र को श्रवण-क्रिया में नियुक्त करता है? आगे

ऋषि ने इसका उत्तर दिया है। कठोपनिषद् में नचिकेता यम के दिये हुए वरों के अनुसार तीन प्रश्न पूछता है और यम उनके उत्तर देता है। नचिकेता का मृत्यु एवं अमरता विषयक तीसरा प्रश्न पूछना, यम द्वारा उसे पूछने से रोकना और उसके बदले कुछ और माँगने के लिए तरह-तरह के प्रलोभन देना, अन्त में नचिकेता की ही विजय होना और यम द्वारा उसे मृत्यु एवं अमरता विषयक प्रश्न का विस्तार से उत्तर दिया जाना, सम्पूर्ण योगविधि सिखाना और ब्रह्म के दर्शन कराना सब-कुछ ऐसी स्वाभाविकता और सरलता से हो गया है कि चमत्कार प्रतीत होता है।

प्रश्नोपनिषद् सारी ही प्रश्नोत्तर-रूप है। छह शिष्यों ने महर्षि पिप्पलाद से एक-एक करके छह प्रश्न किये हैं, जिसमें सारी सृष्टि-विद्या, स्वप्न-विद्या, सुषुप्ति-विद्या और अध्यात्म-विद्या आ गई है। मुण्डक उपनिषद् भी प्रश्न से ही आरम्भ होती है और सम्पूर्ण उपनिषद् में उसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। महाशाल शौनक अङ्गिरस् ऋषि से प्रश्न करता है कि वह कौन-सा तत्त्व है, जिसके जान लेने पर सब-कुछ विज्ञात हो जाता है? जैसा अद्भुत प्रश्न है, वैसा ही अद्भुत अङ्गिरस् ऋषि का उत्तर है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की भार्गवी वारुणी विद्या भी अत्यन्त चामत्कारिक है, जिसमें पुत्र भृगु अपने पिता वरुण से ब्रह्मविषयक प्रश्न करता चलता है और पिता उसका उत्तर देते चलते हैं। इस प्रकार प्रश्नोत्तरों द्वारा उपनिषद् के ऋषियों ने गूढ़ से गूढ़ प्रश्नों का बड़ी ही सरल शैली में उत्तर दे दिया है।

सरल रूपक, सरल उपमाएँ

उपनिषत्कार विषय को समझाने के लिए स्थान-स्थान पर रूपकों और सरल उपमाओं का प्रयोग करते हैं, जिनसे विषय हस्तामलकवत् स्पष्ट भासित हो जाता है। यहाँ नमूने के रूप में दो रूपक हम दे रहे हैं। पहला रूपक कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली का है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ —३.३,४

आत्मा को रथारोही जानो, शरीर को रथ। बुद्धि को सारथि

मानो, मन को लगाम। इन्द्रियों को घोड़े समझो, विषयों को चरागाह। इन्द्रियों एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता जानो।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ —३.५

जो बुद्धिरूप सारथि को सावधान नहीं रखता और मन की लगाम को नहीं साधे रहता, उसके इन्द्रियरूप घोड़े वश से बाहर हो जाते हैं, जैसे दुष्ट अश्व सारथि के वश में नहीं रहते।

दूसरा रूपक मुण्डकोपनिषद् का है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥ —२.२.४

ओङ्कार का जप धनुष है, जीवात्मा बाण है। ब्रह्म उसका लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर लक्ष्यवेध करना चाहिए। तब बाण के समान जीवात्मा लक्ष्यमय हो जाता है।

सरल, स्वाभाविक उपमाएँ भी उपनिषदों में यत्र-तत्र जड़ी हुई हैं। यथा—

"जैसे रानी मधुमक्खी के छत्ते में से उड़ जाने पर सब मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर बैठ जाती हैं, ऐसे ही शरीर में से प्राण के निकल जाने पर वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र सब निकल जाते हैं और शरीर में प्राण के बैठ जाने पर सब बैठ जाते हैं।" (प्रश्नोपनिषद्, द्वितीय प्रश्न)

"जैसे अस्त होते हुए सूर्य के तेजोमण्डल में सब किरणें एकीभूत हो जाती हैं और सूर्य के उदय होने पर फिर निकलने लगती हैं, ऐसे ही स्वप्नकाल में चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियाँ मन में एकीभूत हो जाती हैं और जागने पर फिर निकल आती हैं।" (प्रश्नोपनिषद्, चतुर्थ प्रश्न)

"जैसे रात्रि में सब पक्षी अपने आवास-वृक्ष पर जा बैठते हैं, ऐसे ही सुषुप्तिकाल में शरीर की सब शक्तियाँ आत्मा में प्रविष्ट हो जाती हैं।" (प्रश्नोपनिषद्, चतुर्थ प्रश्न)

"जैसे साँप केंचुली से छूट जाता है, ऐसे ही मनुष्य का आत्मा पाप से छूट जाता है।" (प्रश्नोपनिषद्, पञ्चम प्रश्न)

अनेक क्षेत्रों में अर्थदर्शन

वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, यास्कीय निरुक्त आदि के समान उपनिषदें

भी किसी तथ्य को अनेक क्षेत्रों में घटाने में रुचि लेती दिखाई देती हैं। केन उपनिषद् में यक्ष-कथा के प्रसङ्ग में ऋषि अधिदैवत में विद्युत् के विद्योतन को तथा अध्यात्म में मन के सङ्कल्प को ब्रह्म का आदेश कहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में संहिता की उपनिषद् पाँच क्षेत्रों में वर्णित की गई है—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म। लोकों के क्षेत्र में पृथिवी पूर्वरूप है, द्यौ उत्तररूप है, आकाश सन्धि है, वायु सन्धि करनेवाला है। ज्योतियों के क्षेत्र में अग्नि पूर्वरूप है, आदित्य उत्तररूप है, अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल सन्धि हैं, विद्युत्-छटा सन्धि करानेवाली है। विद्या के क्षेत्र में आचार्य पूर्वरूप है, शिष्य उत्तररूप है, विद्या सन्धि है, प्रवचन सन्धि करानेवाला है। प्रजा के क्षेत्र में माता पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप है, सन्तान सन्धि है, प्रजनन-क्रिया सन्धि करानेवाली है। शारीरिक या अध्यात्म क्षेत्र में निचला जबड़ा पूर्वरूप है, उपरला जबड़ा उत्तररूप है, शब्द सन्धि है, जिह्वा सन्धि करानेवाली है।[१] तैत्तिरीय उपनिषद् में ही पाङ्क्त उपासना अधिभूत तथा अध्यात्म दृष्टियों से वर्णित की गई है। वहाँ तीन पञ्चक अधिभूत के हैं और तीन पञ्चक अध्यात्म के।[२] प्रश्नउपनिषद् में 'प्राण कैसे बाह्य जगत् को धारण करता है और कैसे अध्यात्म जगत् को?' इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि आदित्य ही बाह्य प्राण है, जो अध्यात्म चाक्षुष प्राण को अनुगृहीत करता है।[३] छान्दोग्य उपनिषद् के भी कई प्रसङ्ग अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से लिखे गये हैं।[४] उक्ति प्रसिद्ध है कि—"जो शरीर में घटित हो रहा है, वह ब्रह्माण्ड में भी घटित हो रहा है।"[५] अथर्ववेद कहता है कि—"शरीर में बाह्य सब देव वैसे ही आकर बैठे हुए हैं, जैसे गौएँ गोशाला में आकर बैठती हैं।"[६] उसी सरणि पर उपनिषदें भी चली हैं।

---

१. द्रष्टव्य : तै० उप०, शिक्षावल्ली, अनुवाक ३।
२. द्रष्टव्य : तै० उप०, शिक्षावल्ली, अनुवाक ७।
३. द्रष्टव्य : प्रश्न० उप० ३।८।
४. द्रष्टव्य : छा० उप० १।२-७, ३।१८, ४।३।
५. यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।
६. सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते। अथर्व० ११।८।३२

सरल भाषा

उपनिषदों की भाषा अत्यन्त सरल है। शिक्षक छात्रों को पढ़ाते समय जैसी भाषा बोलता है, वैसी है। वाक्यों में, मध्य-मध्य में ह, वै, वाव, नु आदि शब्द आते हैं, जो रुक-रुककर समझाते हुए पाठ पढ़ाने को सूचित करते हैं? उपनिषदों के ऋषि छोटे-छोटे सरल वाक्यों में अपनी बात कह देते हैं। भाषा के कुछ नमूने यहाँ दिये जा रहे हैं—

१. भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ —कठ, वल्ली ६

"इस परमात्मा के ही भय से अग्नि ताप देता है, इसी के भय से सूर्य ताप देता है। विद्युत् और वायु भी इसी के भय से अपना-अपना कार्य करते हैं। इसी के भय से पाँचवाँ मृत्यु गति कर रहा है।"

२. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

—मुण्डक ३।२।३

"यह परमात्मा न प्रवचन से प्राप्य है, न मेधा से, न बहुत शास्त्र श्रवण करने से। जिसको यह स्वयं वर लेता है, उसी से यह प्राप्य होता है। उसके प्रति यह अपने स्वरूप को खोल देता है।"

३. आचार्य स्नातक बनाते समय शिष्यों को उपदेश कर रहे हैं—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्।

—तैत्तिरीय, शिक्षावल्ली। अनु० ११

"हे नव स्नातको! तुम सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। आचार्य के लिए उसका प्रिय धन लाते रहना, प्रजासूत्र को मत तोड़ना। सत्य से प्रमाद मत करना। धर्म में प्रमाद मत करना। लोगों का कुशलक्षेम करने में प्रमाद मत करना।"

४. प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानाम् आयुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। —तैत्तिरीय, ब्रह्मवल्ली। अनु० ३

"प्राण से देव अनुप्राणित होते हैं। मनुष्य और पशु भी। प्राण प्राणियों का आयु है, आयु को देनेवाला है। इसी से वह 'सर्वायुष' कहाता है। वे सारी आयु पाते हैं, जो प्राण को ब्रह्मरूप में उपासते हैं।"

उपनिषद् की भाषा के विषय में एक यह बात भी ध्यान करने योग्य है कि लिखितरूप में उपनिषदें सन्धि की हुई प्राप्त होती हैं, किन्तु जब ऋषि लोग शिष्यों को पढ़ाते थे, तब वाक्य सन्धि तोड़कर बोलते थे। सन्धि तोड़कर पढ़ें तो भाषा और भी सरल प्रतीत होने लगती है।

उपनिषदों का त्रैविध्य

उपनिषदें तीन प्रकार की हैं। कुछ मन्त्रोपनिषद् हैं, जो श्लोकबद्ध या पद्यमय हैं, जैसे ईश, कठ, मुण्डक। कुछ ब्राह्मणोपनिषद् हैं, जो गद्यमय हैं, यथा माण्डूक्य, ऐतरेय। कुछ मिश्रोपनिषद् हैं, जिनमें गद्य और पद्य दोनों हैं, यथा केन, प्रश्न, तैत्तिरीय। कुछ लोग तैत्तिरीय को गद्योपनिषद् ही मानते हैं, जो श्लोक सदृश प्रतीत होते हैं, उन्हें भी वे गद्य ही कहते हैं।

प्रस्तुत 'दीपिका' के विषय में

उपनिषदों की अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ तथा व्याख्याएँ विद्यमान हैं, जिनसे छात्रगण एवं वैदिक संस्कृति के प्रेमी लोग लाभान्वित हो सकते हैं। जो संस्कृत के ज्ञाता हैं, वे उनकी सहायता से उपनिषद् के गद्य-पद्यों का अर्थज्ञान भी कर सकते हैं। प्रस्तुत 'उपनिषद्-दीपिका' प्रधानतः उनके लिए लिखी गई है, जो संस्कृत भाषा से सुपरिचित नहीं हैं, फिर भी यह जानना चाहते हैं कि उपनिषदों में क्या है? किन्तु संस्कृत के ज्ञाता विज्ञजन भी इसे पढ़कर उपनिषदों का मर्म समझने तथा आनन्दोपलब्धि करने में कुछ अंश तक समर्थ हो सकते हैं। इस पुस्तक में, हिन्दी भाषा में, सरल रूप में सरस उपनिषत्कथा लिखी गई है। जहाँ-कहीं उपनिषद् का कथ्य कुछ जटिल प्रतीत हुआ है, वहाँ भी उसे कथा-रूप में या अन्य विधि से सरल करके ही लिखा गया है। प्रयत्न यह किया गया है कि पाठक पढ़ते चलें और उन्हें विषय स्वतः हृदयङ्गम होता चले। उपनिषदों की संस्कृत प्रायः नीचे टिप्पणी में दे दी गई है। जो उसे देखना चाहें वे नीचे देख सकते हैं। ईशोपनिषद् के मन्त्र ऊपर ही दिये गये हैं, उनका हिन्दी

शब्दार्थ नीचे टिप्पणी में लिखा है। भाव ऊपर ही खोला गया है। उपनिषदों का भाव हिन्दी भाषा में लिखते हुए यथास्थान विषयानुसार हमने शीर्षक भी दे दिये हैं। अनेक स्थलों पर हमने उपनिषद् की पङ्क्तियों का प्रचलित व्याख्या से भिन्न आशय लिया है। हमें वही आशय अभिप्रेत प्रतीत होता है। प्रत्येक उपनिषद् के अन्त में प्रश्नावलि भी दे दी गई है, जिससे उस उपनिषद् के विषय का अभ्यास करने में सहायता मिलेगी।

केवल ईशादि प्रथम आठ उपनिषदों की सरस कथा इस 'दीपिका' में लिखी गई है। शेष छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर उपनिषदों की कथा फिर कभी लिखेंगे।

अन्त में मैं श्री लाला आदित्यप्रकाश आर्य जी का कोटिशः धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने अपने 'अनीता आर्ष प्रकाशन' की ओर से इसे प्रकाशित करने की कृपा की है। सम्पादन के लिए श्री ब्रह्मचारी नन्दकिशोर जी को बहुत-बहुत साधुवाद देता हूँ, जो विविध कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी इस वैदिक साहित्य प्रकाशन-यज्ञ के ब्रह्मा बने हुए हैं।

वेदमन्दिर **—रामनाथ वेदालङ्कार**
ज्वालापुर (हरिद्वार) १६ जून, २०००

विषयानुक्रमणी

७. ऐतरेयोपनिषद् ०००

सामान्य परिचय। सृष्टि का उपक्रम। लोकों की रचना। लोकपालों की रचना। बाह्य लोकपाल। आन्तरिक लोकपाल। अन्न की उत्पत्ति और उसका भोग। आत्मा का शरीर में प्रवेश। आत्मा द्वारा ब्रह्म-दर्शन। पुरुष के तीन जन्म। अनेक जन्मों की परम्परा। वामदेव ऋषि के उद्गार। आत्मा कौन है? परम आत्मा ब्रह्म। शान्तिपाठ। अभ्यासार्थ प्रश्न।

८. तैत्तिरीयोपनिषद् ०००

सामान्य परिचय। १. शिक्षावल्ली—शान्तिमन्त्र। शिक्षाध्याय। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान। संहितोपनिषद्—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, अध्यात्म। फलश्रुति। शिष्य की आचार्य से आकांक्षा। आचार्य की आकांक्षा। चार व्याहृतियों का उपदेश—अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिवेद, अधिप्राण, चारों व्याहृतियों की उपासना का फल। पाङ्क्त उपासना। अधिभूत एवं अध्यात्म पाङ्क्त। आचार्य द्वारा ओङ्कार का उपदेश। ऋत, सत्य आदि सहित स्वाध्याय-प्रवचन। परमेश्वर का आत्म-परिचय। नव स्नातकों को आचार्य का उपदेश। शान्तिपाठ।

२. ब्रह्मवल्ली—शान्तिमन्त्र। ब्रह्मज्ञान का फल। अन्नमय शरीर का महत्त्व। प्राणमय शरीर का महत्त्व। मनोमय शरीर का महत्त्व। विज्ञानमय शरीर का महत्त्व। आनन्दमय शरीर का महत्त्व। पाँचों शरीरों की संक्षिप्त व्याख्या। अनुप्रश्न और उसका उत्तर। आनन्द की मीमांसा। शान्तिपाठ।

३. भृगुवल्ली—शान्तिमन्त्र। भार्गवी वारुणी विद्या। अन्नोपासना। अतिथि-सत्कार। मानुषी समाज्ञाएँ। दैवी समाज्ञाएँ। परमेश्वर की विभिन्न नामों से उपासना। परमेश्वर एक है। ब्रह्मज्ञानी की स्थिति। सामगान। शान्तिपाठ। अभ्यासार्थ प्रश्न।

ओ३म्

१. ईशोपनिषद्

महर्षि कण्व यजुर्वेद के एक बहुत बड़े प्रचारक हुए हैं। इनके नाम से यजुर्वेद की काण्व-संहिता प्रचलित है। वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेद संहिता दो प्रकार की उपलब्ध होती है—एक माध्यन्दिन संहिता, दूसरी काण्व संहिता। काण्व संहिता यजुर्वेद की काण्व शाखा भी कहलाती है। इसी काण्व शाखा के प्रवर्तक, सम्पादक और प्रसारक आचार्य कण्व हैं। इस काण्व शाखा का चालीसवाँ अध्याय ही उपनिषत्काल में ईशोपनिषद् नाम से प्रचलित हो गया। माध्यन्दिन यजुर्वेद का जो चालीसवाँ अध्याय है, उससे इसमें मन्त्रक्रम तथा मन्त्रपाठ की दृष्टि से कुछ अन्तर है। उपनिषद् में एक मन्त्र अधिक भी है।

शान्ति-मन्त्र

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह परमेश्वर पूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है। पूर्ण परमेश्वर में से पूर्ण जगत् निकलता है, किन्तु पूर्ण परमेश्वर में से पूर्ण जगत् लेकर भी परमेश्वर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। उस परमेश्वर को हमारा नमस्कार है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हम गुरु-शिष्यों को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शान्ति प्राप्त हो।

पूर्ण परमेश्वर में से पूर्ण जगत् लेकर शून्य बचना चाहिए, किन्तु पूर्ण ही बचता है, क्योंकि परमेश्वर जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जगत् जैसे निर्माण से पूर्व निमित्त कारण परमेश्वर के मानस में विद्यमान था, वैसे ही निर्माण के पश्चात् भी रहता है।

पाठ-१

सारा जगत् ईश ने बसाया है

[१]ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥ १॥

"इस जगती में ब्रह्माण्ड की काया में जो भी जङ्गम लोक-लोकान्तर हैं, उन्हें ईश्वर ने बनाया और बसाया है [उनकी सम्पदा ईश्वर की है, तुम्हारी नहीं]। इसलिए त्यागभाव से भोग करो, ललचाओ मत। धन भला किसका है!"

तपोवन के अपने गुरुकुल में आचार्य कण्व शिष्यों को पढ़ा रहे हैं। सब शिष्य श्रद्धाभाव से सुन रहे हैं।

शिष्यो, क्या तुम जानते हो कि यह जगती, यह ब्रह्माण्ड की काया, कितनी विशाल है? तुम्हें तो अपनी भूमि ही बहुत बड़ी प्रतीत होती होगी, जिसमें वन हैं, पर्वत हैं, नदियाँ हैं, सागर हैं और जिसका कोई ओर-छोर दिखायी नहीं देता। पर यह भूमि तो हमारे सौरमण्डल का एक छोटा-सा सदस्य है। यह हमारी भूमि सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर काट रही है, जिससे इसमें महीनों और ऋतुओं के साथ-साथ संवत्सर-चक्र का निर्माण होता है। यह भूमि हमारे सूर्य का एक ग्रह कहलाती है। भूमि की तरह मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि अन्य ग्रह भी हैं, जो सूर्य की परिक्रमा करते हैं और जिनका जीवन-मरण सूर्य पर ही निर्भर है। जैसे हमारी भूमि का एक उपग्रह है, जिसे हम चन्द्रमा कहते हैं, वैसे ही मङ्गल, बुध आदि ग्रहों के भी अपने-अपने चन्द्रमा हैं। किसी-किसी ग्रह के तो कई-कई चन्द्रमा हैं। इन सब ग्रह-उपग्रहों का राजा सूर्य है, जो परिमाण और भार में इन सबसे बड़ा है, जिससे ये सब प्रकाशित होते हैं। भूमि आदि ग्रहोपग्रह सूर्य के साथ मिलकर एक सौरमण्डल बनाते हैं। ऐसे-ऐसे सौरमण्डल इस जगती में अनेकों हैं। गगन में, रात्रि में जो असंख्य तारे दिखायी देते हैं, वे सब अलग-अलग सूर्य हैं, जो हमारे सूर्य से

---

१. (ईशा) ईश्वर से (वास्यं) बसाया गया है (इदं) यह (सर्वं) सब (यत् किञ्च) जो कुछ भी (जगत्यां) ब्रह्माण्ड की काया में (जगत्) जङ्गम लोक-लोकान्तर है। (तेन) इस कारण (त्यक्तेन) त्याग-भाव से (भुञ्जीथाः) भोगकर। (मा) मत (गृधः) ललचा। (कस्य स्वित्) भला किसका है (धनं) धन!

लाखों गुणा बड़े हैं, पर हमारे सूर्य की अपेक्षा बहुत दूर होने के कारण छोटे-छोटे लगते हैं। इन सबके भी अपने-अपने ग्रह-उपग्रह हैं, जो हमें दीखते भी नहीं हैं। यह जो बरसात की रात में आस्मान में गङ्गा की धारा-सी प्रतीत होती है, जिसे आकाश-गङ्गा नाम दिया गया है, उसमें भी समीप-समीप बहुत-से तारे हैं, जो अलग-अलग न दीखकर एक फैला हुआ प्रकाश-सा दिखायी देता है। इस प्रकार हमारी जगती, अर्थात् ब्रह्माण्ड की काया में असंख्यात जगत् हैं, अनगिनत लोक हैं।

क्या तुम्हारा ध्यान कभी इस ओर भी गया है कि इन लोक-लोकान्तरों को किसने बसाया है? बोलो, बोलो, चुप क्यों हो, बोलते क्यों नहीं? मैं तुम्हारे मन की बात समझ रहा हूँ। शायद तुम कहना चाहते हो कि किसी शक्तिशाली मनुष्य ने इन्हें बसाया होगा। जब मनुष्य महल-हवेली बना सकता है, कल-कारखाने बना सकता है, बिजली बना सकता है, तारयन्त्र खड़े कर सकता है, मोटरकार और विमान बना सकता है, अणुबम बना सकता है, कृत्रिम ग्रह बना सकता है, तब लोक-लोकान्तरों को बनाना और बसाना क्या कठिन है? पर तुम भूल करते हो। असल में इस ब्रह्माण्ड की विशाल काया में या जगती में जो भी जगत् हैं, लोक-लोकान्तर हैं, उन्हें ईश्वर ने बनाया और बसाया है। निःसन्देह मनुष्य मकान बनाता है, नगरियाँ बसाता है, परन्तु उसमें लोक-लोकान्तरों को बनाने और बसाने की क्षमता नहीं है। वह मकान बनाता है ईश्वर की रची हुई मिट्टी का उपयोग करके, ईश्वर के रचे हुए पानी का उपयोग करके, ईश्वर की रची हुई आग का उपयोग करके। क्या मिट्टी, पानी और अग्नितत्त्व को वह स्वयं उत्पन्न कर सकता है? यदि वह इन्हें ही स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकता, तो लोक-लोकान्तर भला कैसे बनायेगा? इसलिए हे पुत्रो, वेद की इस बात पर श्रद्धा करो कि इस सुविस्तीर्ण जगती में जो भी लोक-लोकान्तर हैं, उन्हें ईश्वर ने ही रचाया और बसाया है।

शिष्यो, यद्यपि ईश्वर ने सारे संसार को ही बनाया और बसाया है, तो भी तुम्हारा सम्बन्ध मुख्यतः इस भूमि से है, जिस पर तुम रहते हो। क्या तुम नहीं देखते कि भूमि में कितनी धन-दौलत भरी पड़ी है? भूमि में गर्भ के अन्दर अपार सम्पत्ति है, भूतल के ऊपर भी अपार सम्पत्ति है। भूगर्भ में सोना, चाँदी, लोहा, कोयला, तेल, गन्धक आदि की खाने हैं। भूतल के ऊपर

ओषधि-वनस्पति, फूल-फल, अग्नि, जल, वायु, पशु, पक्षी आदि की सम्पदा बिखरी पड़ी है। भूमि के सागरों में लवण, सीपी, मोती, जल-जन्तु आदि की सम्पत्ति विद्यमान है। तुम इस सारी सम्पदा के स्वामी बनना चाहते हो और अहंकार करना चाहते हो कि यह सारा ऐश्वर्य हमारा है, परन्तु इस बात को मत भूलो कि यह सब धन-दौलत ईश्वर की है, वही इसका असली स्वामी है। प्रभु द्वारा बिखरायी हुई इस असीम मूल्यवान् सम्पदा में से तुम अपने उपयोग के लिए कुछ लेना चाहते हो तो प्रभु का धन्यवाद करते हुए ले सकते हो, किन्तु आवश्यकता से अधिक उसका अपने पास संग्रह कर लेना और दूसरे की वस्तु पर अपना अधिकार जताना किसी भी हालत में शोभनीय नहीं है। यदि तुम्हें सदा इस बात का ध्यान रहेगा कि वस्तुतः यह धन हमारा नहीं है, प्रभु का है, तो तुम्हारे अन्दर त्यागभाव आयेगा, तुम सारा धन अपने पास बटोर लेना नहीं चाहोगे, अपितु दूसरों के लिए भी छोड़ोगे। सभी नर प्रभु के अमृत पुत्र हैं, सभी नारियाँ प्रभु की अमृत पुत्रियाँ हैं। उनका हिस्सा छीनना भाई-बहिनों के प्रति अपराध है।

अतः त्यागभाव से धन का भोग करो, लालच मत करो। धन तुममें से भला किसका है? किसी का नहीं, वह तो प्रभु का है॥ १॥

ना जग तेरा ना जग मेरा। दुनियाँ रैन-बसेरा रे॥

पाठ-२

कर्म करते हुए ही जियो

[२]कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥

"मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। हे नर, यही विधान तेरे लिए है, इसके विपरीत

---

२. (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन् एव) करता हुआ ही (इह) इस संसार में (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (शतं समाः) सौ वर्ष तक। (एवं) ऐसा ही विधान (त्वयि) तेरे प्रति है, (इतः अन्यथा) इससे विपरीत (न अस्ति) नहीं है। (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (लिप्यते न) लिप्त नहीं होता।

नहीं। [कर्म करने से डर मत।] कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।''

शिष्यो, कल मैंने तुम्हें ईश्वर द्वारा जगत् के बसाये जाने की बात कही थी। यह भी कहा था कि जग में फैली पड़ी धन-दौलत न मेरी है, न तुम्हारी है, न किसी अन्य मानव की है। इसलिए धन का भोग करो, तो त्यागभाव से करो, सब-कुछ अपने पास बटोरकर मत रख लो, दूसरों के लिए भी छोड़ो।

सम्भव है ईश्वर का नाम तुम्हारे मन में ऐसा घर कर गया हो कि तुम जगत् से किनारा करके, सब कर्त्तव्य कर्मों से पराङ्मुख होकर ईश्वर में रम जाने की बात सोचने लगे हो। इसलिए तुम्हें सावधान करना आवश्यक है। ईश्वर और जगत् का आपस में कोई विरोध नहीं है। अपने कर्त्तव्यों को तिलाञ्जलि देकर ईश्वर की ओर जाने की बात सोचना जग-द्रोह के साथ-साथ ईश्वर-द्रोह भी है। सच्ची ईश्वराराधना तो वह है, जिसमें मनुष्य संसार के प्रति अपने कर्त्तव्यों से विमुख नहीं होता। इसीलिए वेद का सन्देश है कि मनुष्य कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। हम कर्मों से विरत रहकर परमात्मा में मन लगायेंगे, यह विचार करना स्वयं को छलावा देना है।

''कोई भी मनुष्य बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। प्रकृति के गुणों से बाधित होकर उसे कर्म करना ही पड़ता है। जो कर्मेन्द्रियों को कर्म से रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता रहता है, वह मूढ़ मनुष्य मिथ्याचारी कहलाता है। इसके विपरीत जो जितेन्द्रिय होकर अ-सक्त रहकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग में लगा रहता है, वह विशिष्ट पुरुष कहलाता है। निश्चय ही कर्म अकर्म से श्रेष्ठ है। जो कर्म न करने का आग्रह करता है, उसकी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकती।''[३]

---

३. **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ —भगवद्गीता ३।५-८

संसार में रहते हुए वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा का पालन करना होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण हैं। ब्राह्मण का मुख्य कर्म ज्ञान और सदाचार का प्रसार है। क्षत्रिय का मुख्य कर्म रक्षा करना है। वैश्य का मुख्य कर्म कृषि, व्यापार और पशुपालन है। शूद्र का मुख्य कर्म सेवा करना है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। ब्रह्मचारी का मुख्य कर्म विद्याध्ययन, व्रतपालन तथा अपने शरीर एवं आत्मा का विकास करना है। गृहस्थ का मुख्य कर्म परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्व को निभाना एवं राष्ट्र को उत्तम सन्तान प्रदान करना है। वानप्रस्थ का मुख्य कर्म विषयों से उपरत रहते हुए आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना है। संन्यासी का मुख्य कर्म सर्वत्र परिभ्रमण करते हुए अपने उपदेशों द्वारा सामाजिक एवं राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करना है। इन कर्त्तव्य कर्मों को सौ वर्ष तक या जीवनपर्यन्त करते ही रहना है। इनसे विमुख होने का अभिप्राय है मर्यादापालन से कतराना।

"कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जो कर्म आसक्तिरहित होता है, बिना राग-द्वेष के किया जाता है और जिसमें फलेच्छा की उत्कटता नहीं होती यह **सात्त्विक** कर्म कहलाता है। जो कर्म फलेच्छा की उत्कटता के साथ या अहंभाव के साथ किया जाता है, वह **राजस** कर्म कहाता है। जो कर्म हानि, लाभ, उपकार, क्षय, हिंसा आदि का विचार किये बिना मोहवश किया जाता है, वह **तामस** कर्म होता है।"[४]

"इन तीन प्रकार के कर्मों के अनुरूप कर्मकर्त्ता भी तीन प्रकार के होते हैं। आसक्ति और अहंवाद से रहित, धृति एवं उत्साह से युक्त, कार्य की सिद्धि या असिद्धि में निर्विकार रहनेवाला कर्त्ता **सात्त्विक** कहलाता है। रागी, कर्म-फल के प्रति आग्रही, लालची, हिंसावृत्तिवाला, अशुचि एवं हर्ष-शोक से युक्त कर्त्ता

---

४. **नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।**
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत्सात्त्विकमुच्यते॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ —वही, १८।२३-२५

राजस कहाता है। अयोगी, साधारण, स्तब्ध, शठ, निकम्मा, आलसी, विषादी, कार्य को व्यर्थ लम्बा करनेवाला कर्त्ता **तामस** होता है।"[5] इनमें से सात्त्विक कर्म और सात्त्विक कर्त्ता ही श्रेष्ठ हैं, अतः तुम सात्त्विक कर्म के कर्त्ता बनो। अकर्मण्यता का मार्ग कायरों के लिए है।

प्यारे शिष्यो, क्या तुम्हारे मन में यह सन्देह उदित हो रहा है कि कर्म करेंगे तो कर्मलेप अवश्यंभावी है। कर्म, कर्म के बाद उसका फल, फिर कर्म और फिर कर्मफल—इस प्रकार यह शृङ्खला कभी समाप्त नहीं होगी। कर्म के बन्धन में ही हम बँधे रहेंगे, उससे मुक्ति कभी नहीं होगी। इस कर्मफल से बचने के लिए ही हम कर्म को तिलाञ्जलि देना चाहते हैं। न रहेगा बाँस, न रहेगी बाँसुरी।

तो सुनो, इस कर्मलेप से बचने का उपाय भी सुनो। कर्मलेप से बचने का उपाय है अनासक्त होकर कर्म करना। अनासक्ति का अभिप्राय है फल के प्रति अत्यधिक आसक्त या अत्युत्कट लगाववाला न होना। जो अनासक्त होकर कर्त्तव्य कर्म करते हैं, उन्हें वाञ्छित फल न मिलने पर भी पीड़ा, चिन्ता या व्याकुलता नहीं होती। उनकी भावना यह होती है कि हमारे हाथ में कर्म करना है, उसका फल देना प्रभु के हाथ में है, किन्तु जो फलासक्ति से कर्म करते हैं, वे फल न मिलने पर उदास, निराश, चिन्तातुर, व्याकुल हो जाते हैं। अनासक्तभाव से किया जानेवाला कर्म दुःखदायी एवं उद्वेजक नहीं होता, अतः शत वर्ष तक या उससे भी अधिक के अपने जीवन में कर्त्तव्य कर्मों के प्रति कभी उदासीन मत होवो। यही वेद की आज्ञा है, यही उपनिषद् का आदेश है, यही सन्तों का उपदेश है॥ २॥

---

५. **मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते॥
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ —वही, १८।२६-२८

पाठ-३

आत्मघाती मत बनो

[६]असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

"असुरों से प्राप्तव्य वे लोक हैं, जो अन्धे अन्धकार से आच्छन्न हैं। उन लोकों को वे मरने के बाद प्राप्त करते हैं, जो आत्मघाती लोग होते हैं।"

शिष्यो! मैंने तुम्हें कहा था कि सौ वर्ष तक या जीवनपर्यन्त कर्त्तव्य कर्म करते रहो। पर इसका अभिप्राय यह मत समझ लेना कि जीवन में अध्यात्म को कोई स्थान नहीं है। कहीं तुम आत्मा और परमात्मा के प्रति उदासीन न हो जाना। जो लोग आत्मा की नित्यता को हृदयङ्गम कर लेते हैं और यह जान लेते हैं कि वह कर्मानुसार विविध योनियों में जन्म लेता है, अर्थात् पुण्य कर्मों से देवयोनि पाता है, पाप कर्मों से पशु, पक्षी, स्थावर आदि की योनियाँ पाता है और पाप-पुण्य-रूप मिश्रित कर्मों से मनुष्य-योनि पाता है, वे निःसन्देह सत्कर्मों में ही संलग्न रहने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अतः आत्मा की अमरता को अनुभव करो। साथ ही परमात्मा के प्रति मनुष्य का जो कर्त्तव्य है, उसे भी पहचानो। परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से अपने मन, बुद्धि, आत्मा को पवित्र करो। हृदय में प्रभु की झाँकी पाने का प्रयास करो। कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह के साथ-साथ आत्मा को ब्रह्म में तल्लीन करने की भी साधना करो। कर्मयोग और अध्यात्मयोग का जीवन में समन्वय ही श्रेयस्कर है।

कुछ लोग आत्मघाती होते हैं, जीवन में आत्मा और परमात्मा की उपेक्षा करते रहना, आत्मा-परमात्मा की आवाज़ न सुनना ही जिनका अभ्यास पड़ जाता है, वे प्रकृति की ओर भागते हैं, सांसारिक विषय-भोगों की ओर दौड़ते हैं। विषय-रसों में आनन्द लेना ही उनका स्वभाव बन जाता है। भारत के इतिहास में एक

---

६. (असुर्य्याः नाम) असुर्य नामवाले, असुरों से प्राप्तव्य (ते लोकाः) वे लोक हैं, जो (अन्धेन तमसा) गाढ़ अन्धकार से (आवृताः) घिरे हुए हैं। (तान्) उन लोकों को (ते) वे लोग (प्रेत्य) मरकर (अभिगच्छन्ति) प्राप्त करते हैं (ये के च) जो कोई भी (आत्महनः) आत्मघाती (जनाः) जन होते हैं॥

चारवाक सम्प्रदाय रह चुका है। इस सम्प्रदाय के माननेवालों का कहना था कि जब तक जिओ, सुख से जिओ, ऋण ले-लेकर घी पिओ, ऋण चुकाने के विषय में कभी मत सोचो; मरणानन्तर, शरीर के चिताग्नि में भस्म हो जाने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता।[7] शरीर तो भस्म हो जाता है और आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, जो पुनः देह धारण करे। इस सम्प्रदाय के लोग आज भी हैं, भले ही वे स्वयं को चारवाक नाम न देते हों, परन्तु उनके कार्य चारवाकों जैसे ही हैं। ऐसे लोगों से तुम सावधान रहना। उनका अनुकरण मत करना।

जब कोई मनुष्य प्रथम बार चोरी करने जाता है, तब उसके अन्दर से आवाज़ आती है कि दूसरे का धन चुराना अच्छा नहीं है। जब कोई मनुष्य प्रथम बार किसी की हिंसा करने पर उतारू होता है, तब उसके अन्दर से प्रेरणा होती है कि दूसरे की जान लेना बुरा काम है। किन्तु मनुष्य बार-बार उस पाप कर्म को करके उस आवाज़ या प्रेरणा को अनसुनी करने का अभ्यस्त हो जाता है। ये शुभ आवाजें या प्रेरणाएँ अपनी अन्तरात्मा तथा परमात्मा की ओर से भेजी गयी होती हैं। जो इनका हनन करता है, वह आत्मघाती होता है। इस आत्मघात से बचो।

जानते हो, आत्मघात करनेवालों की क्या गति होती है ? कुछ ऐसे लोक हैं, ऐसी योनियाँ हैं, जो अज्ञान के गाढ़ अन्धकार से आवृत हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, सरीसृप, वृक्ष-लताओं के शरीर ऐसे ही लोक हैं, ऐसी ही योनियाँ हैं। इनके पास सूक्ष्म विवेक-शक्ति नहीं है। जिस शेर ने व्याकरण के परम विद्वान् पाणिनि मुनि को खा लिया था, वह गाढ़ अन्धकार से आवृत योनि में ही था। वह विवेक नहीं कर सकता था कि पाणिनि के प्राण लेकर उसने कितना बड़ा अनर्थ कर डाला है।

ये योनियाँ 'असुर्य' कहलाती हैं, क्योंकि असुर लोगों को इनमें जाना पड़ता है। असुर लोग वे होते हैं, जो अध्यात्म साधना से कोसों दूर रहते हुए मार-काट, हिंसा-उपद्रव में ही लगे रहते हैं। इन्हीं योनियों या लोकों को आत्मघाती लोग पाते हैं।

क्या तुम चाहते हो कि तुम पशु बनो, पक्षी बनो, शेर-बाघ-

---

७. **यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।**
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

चीता बनो, शूकर बनो, चिमगादड़ बनो, गिद्ध बनो। यदि नहीं, तो आत्मघात से बचो। जीवन में कर्मयोग और अध्यात्मवाद का समन्वय करो। तब तुम्हें मनुष्य-योनि प्राप्त होगी, जिसे पाने की बड़े-बड़े लोग लालसा रखते हैं। तब तुम्हें देव-योनि प्राप्त होगी और तुम महापुरुषों की, सन्त-शिरोमणियों की, महात्माओं की श्रेणी में जा पहुँचोगे। तब तुम्हें वह अमर पद प्राप्त होगा, जिसे पाने की बड़े-बड़े साधनाशील लोग स्पृहा रखते हैं॥ ३॥

पाठ-४

परमात्मा के वर्णन में विरोधाभास अलङ्कार

[८]अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद् धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

"एक परमात्मा है, जो गति नहीं करता, फिर भी मन से अधिक वेगवान् है। इन्द्रिय-देव उसे नहीं पा सके, फिर भी वह पहले ही उनके पास पहुँचा हुआ है। वह एक स्थान पर ठहरा है, फिर भी दौड़ लगानेवाले अन्यों से आगे पहुँच गया है। मातरिश्वा वायु या मातरिश्वा प्राण उसी के नियन्त्रण में रहता हुआ जीवनदान आदि कर्मों को कर रहा है।"

तुम पूछोगे, यह कैसा विरोधाभास है। न चलता हुआ भी वह मन से अधिक वेगशाली है, यह कैसे सम्भव है? देखो, परमात्मा सर्वव्यापक है और सर्वव्यापक में स्थानान्तर-गति हो नहीं सकती, क्योंकि जो सब जगह विद्यमान है, वह चलकर भला अन्यत्र कहाँ जाएगा? इस कारण कहा गया कि वह चलता नहीं है। परन्तु है वह मन से भी वेगवान्, क्योंकि मन के अन्दर जो क्रियाशक्ति है, वह परमेश्वर की तुलना में कुछ भी नहीं है। मन तो केवल एक शरीर को चलाता है, किन्तु परमेश्वर सकल

---

८. (एकं) एक परमात्मा है, जो (अनेजत्) गति न करता हुआ भी (मनसः जवीयः) मन से अधिक वेगवान् है। (एनत्) इसे (देवाः) इन्द्रियाँ (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्त कर सकी हैं, फिर भी यह उनके पास (पूर्वं) पहले ही (अर्षत्) पहुँचा हुआ है। (तत्) वह (तिष्ठत्) एक स्थान पर खड़ा हुआ भी (धावतः अन्यान्) दौड़ लगानेवाले दूसरों से (अत्येति) आगे निकल जाता है। (मातरिश्वा) वायु या प्राण (तस्मिन्) उसमें (अपः) कर्मों को (दधाति) रखता है।

ब्रह्माण्ड को चला रहा है। फिर यह कहा कि इन्द्रियाँ उसे नहीं पा सकतीं, क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय ही नहीं, इन्द्रियातीत है, इन्द्रियों से उसका दर्शन, श्रवण आदि नहीं हो सकता। तथापि वह सर्वव्यापक होने से इन्द्रियों में भी पहुँचा हुआ है।

आगे श्रुति कहती है कि वह ठहरा हुआ है, तो भी दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है। ठहरा हुआ तो वह है ही, क्योंकि सर्वव्यापक होने से दौड़-भाग नहीं सकता। फिर भी दौड़नेवाले जीव-जन्तु, पवन, नदी, बादल, मन आदि से उसकी महिमा अधिक है, इस कारण वह उनसे आगे निकला हुआ है। वायु या प्राण उसमें कर्मों को उत्पन्न करता है, यह बात भी उल्टी है, क्योंकि परमेश्वर वायु या प्राण में क्रियाशक्ति भरता है, नकि वायु या प्राण परमेश्वर में। तथापि श्रुति के कथन का आशय यह है कि वायु या प्राण उसी के अधीन रहते हुए कर्म करते हैं।

शिष्यो, देखा तुमने वेद का विरोधाभास। विरोध कोई दोष नहीं है, प्रत्युत काव्यशास्त्रियों ने इसे अलङ्कार माना है। जहाँ विरोध की प्रतीति तो होती है, किन्तु उसका परिहार हो जाता है, वहाँ यह अलङ्कार होता है। विरोधाभास अलङ्कार की रमणीयता अगले वेदमन्त्र में और भी अधिक चामत्कारिक रूप में देखने को मिलती है।

[१]तदेँजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

"वह काँपता है, फिर भी वह नहीं काँपता है। वह दूर है, फिर भी वह पास है। वह इस सबके अन्दर है, फिर भी वह इस सबके बाहर है।"

हाँ, गुरुजी! इसमें हमें विरोध तो स्पष्ट दिखायी दे रहा है, पर उसका परिहार हम नहीं समझ पा रहे। अच्छा, जब रात्रि में चाँद आसमान में निकल आये, तब तुम मेरे पास आना। यह सुन शिष्यों की उत्सुकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

---

१. (तत्) वह परमात्मा (एजति) काँपता है, (तत्) वह परमात्मा (न एजति) नहीं काँपता है। (तत्) वह परमात्मा (दूरे) दूर है, (तत् उ) और वह (अन्तिके) पास है। (तत्) वह परमात्मा (अस्य सर्वस्य) इस सबके (अन्तः) अन्दर है, (तत् उ) और वही (अस्य सर्वस्य) इस सबके (बाह्यतः) बाहर है।

चन्द्रमा आकाश में निकल आया है भगवन्, हम सब आपकी सेवा में उपस्थित हैं। अच्छा, चलो, जङ्गल में सरोवर के किनारे चलते हैं। क्या देख रहे हो सरोवर में? सरोवर के पानी में पूनम का चाँद अपनी अपूर्व शोभा के साथ विद्यमान है। यह चाँद काँप रहा है या स्थिर है? बिल्कुल स्थिर है भगवन्! तभी गुरुजी किनारे से एक कङ्कड़ उठाकर सरोवर में फेंक देते हैं। अब कैसा दीख रहा है चाँद? स्थिर है या काँप रहा है? अब तो बहुत ही काँप रहा है भगवन्! सोचो तो, चाँद अभी स्थिर था, अब काँपने क्यों लगा? आकाश में तो अब भी वह स्थिर ही है। मेरे कङ्कड़ फेंकने से सरोवर के पानी में हलचल हुई, पानी काँपने लगा। चाँद का प्रतिबिम्ब, क्योंकि पानी में पड़ रहा है, इसलिए चाँद भी काँपता दीखने लगा। इसी प्रकार प्रभु भी असल में काँपता नहीं है, पर साधक का मन, क्योंकि काँपता है, जिसमें प्रभु प्रतिबिम्बित है, इसलिए प्रभु भी काँपता प्रतीत होता है। समझे या नहीं? हाँ, गुरुजी, इस दृष्टान्त से बहुत अच्छी तरह समझ गये हम, बहुत ही आनन्द आया। अब दूसरी बात समझायें गुरुवर! परमात्मा दूर भी है, पास भी है, यह कैसे? यह दूसरी बात समझायेंगे कल कक्षा में।

अगले दिन कक्षा में गुरुजी से पढ़ने के लिए छात्र आये, तो क्या देखते हैं कि गुरुजी के और छात्रों के बैठने के स्थान के बीच में एक पर्दा पड़ा हुआ है और गुरुजी पर्दे के पीछे बैठे हैं। यह क्या गुरुजी, बीच में यह पर्दा क्यों डलवा दिया है? आज हम पर्दे के पीछे बैठकर ही पाठ पढ़ायेंगे। पाठ आरम्भ होता है। छात्र अन्यमनस्क से बैठे पाठ सुन रहे हैं। कुछ समझ में आ रहा है, कुछ नहीं आ रहा है। बीच में ही छात्र बोल उठते हैं—गुरुजी, इस पर्दे को हम उतारे दे रहे हैं, इससे तो हम और आप बहुत दूर-दूर हो गये हैं। गुरुजी उत्तर देते हैं—यही बात मैं तुम्हारे मुख से कहलाना चाहता था, शिष्यो! पास रहते हुए भी दूर हो जाते हैं, यदि बीच में पर्दा पड़ा हो। मैं और तुम आज भी वहीं बैठे हैं, जहाँ प्रतिदिन बैठते थे। अन्तर इतना ही है कि मध्य में पर्दा है। प्रतिदिन तुम मुझे पास अनुभव करते थे, आज पर्दे के कारण दूर अनुभव कर रहे हो। ऐसे ही परमात्मा के और मनुष्य के बीच में जब अविद्या का पर्दा पड़ा होता है, तब परमात्मा समीप होता हुआ भी दूर दिखायी देता है। समझे या नहीं? पूरी तरह समझ गये गुरुवर, आपने तो पास रहते हुए भी दूर होने की बात को

हस्तामलकवत् साक्षात् दर्शा दिया है। अब कृपा करके तीसरे विरोध का भी परिहार करने का कष्ट करें। परमात्मा सबके अन्दर होते हुए भी सबके बाहर कैसे हो सकता है?

चलो, यह बात भी लगे हाथ समझाये देते हैं। मालिनी नदी के तीर पर चलना होगा। अपने-अपने जलपात्र साथ ले-लो। छात्रों को बड़ा ही कौतुक लग रहा है। सब छात्र गुरुजी के साथ मालिनी के तट पर पहुँच जाते हैं। अपने-अपने जलपात्र नदी के जल में डुबोकर पकड़े रहो—गुरु आदेश देते हैं। अब क्या देख रहे हो? नदी का जल पात्रों के अन्दर है या बाहर? अन्दर भी है, बाहर भी है भगवन्! ऐसे ही परमात्मा भी सब वस्तुओं के अन्दर भी है, बाहर भी है। सब छात्र एक-दूसरे का मुख देखने लगते हैं। कैसी आसानी से समझा दिया हमें गुरुवर ने!

अब तो कुछ विरोध नहीं मालूम पड़ रहा श्रुति के कथन में, शिष्यो! यही विरोधाभास अलङ्कार का चमत्कार है। यह काव्य की एक शैली है, किसी बात को आकर्षक रूप से हृदयङ्गम कराने की। गुरुजी, इस मन्त्र की व्याख्या में तो हमें ऐसा रस आया है, जैसा रसगुल्ले खाने में आता है। हम आपके बड़े कृतज्ञ हैं॥४॥

पाठ-५

सबमें अपने आत्मा को देखो

[१०]यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥
[११]यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

शिष्यो, कल तुम्हारे सम्मुख परमात्मा के विषय में कुछ

---

१०. (यः तु) जो तो (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियों को (आत्मन् एव) अपने आत्मा के अन्दर ही (अनु पश्यति) देखता है, (सर्वभूतेषु च) और सब प्राणियों में (आत्मानं) अपने आत्मा को देखता है, (ततः) तब वह (न) नहीं (विजुगुप्सते) किसी से घृणा करता है।

११. (यस्मिन्) जिस काल में (विजानतः) विज्ञानवान् मनुष्य की दृष्टि में (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपना आत्मा ही हो जाते हैं (तत्र) उस काल में (एकत्वम् अनुपश्यतः) सबके साथ एकत्व को देखनेवाले को (कः मोहः) क्या मोह, (कः शोकः) क्या शोक!

चार्चा की थी, परन्तु आत्मज्ञान के बिना परमात्मज्ञान वैसा ही है, जैसे अपने भूमण्डल को तो जानें नहीं, आदित्यमण्डल की ओर दौड़ें। आत्मानुभूति के बिना परमात्मानुभूति नहीं होती। इसलिए आओ, आज आत्मा का पाठ पढ़ें।

"जब मनुष्य सब प्राणियों को अपने आत्मा के अन्दर देखता है और सब प्राणियों के अन्दर अपने आत्मा को देखता है, तब वह किसी से घृणा नहीं करता।"

"जिस अवस्था में पहुँचने पर विज्ञानी मनुष्य को सब प्राणी अपना आत्मा ही लगने लगते हैं, उस अवस्था में सबमें एकत्व देखनेवाले को फिर मोह और शोक नहीं सताते।"

मनुष्य किसी से घृणा तभी करता है, जब उसे पराया समझता है, अपने से अलग मानता है। सड़क के किनारे बैठे हुए किसी कुष्ठी को देखकर जैसा घृणा का भाव हमारे अन्दर उपजता है, वैसा क्या अपने कोई माता, पिता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन कुष्ठी हो जाएँ, तो उन्हें देखकर भी उपजेगा? नहीं, उनके प्रति तो हमारी ममता ही जागृत होगी। उनकी हम जी-जान से सेवा करेंगे। क्यों? क्योंकि उन्हें हम अपने परिवार का अङ्ग समझते हैं, उनमें अपने आत्मा को देखते हैं, उनका हमने अपने साथ एकत्व माना हुआ है। कोई व्यक्ति परिवार से आगे बढ़कर अपने पड़ोसी के साथ एकत्व समझने लगता है, उसमें अपनी आत्मा के दर्शन करने लगता है। तब उसे पड़ोसी का दुःख-दर्द अपना दुःख-दर्द अनुभव होता है। दूसरा व्यक्ति अपने ममत्व की सीमा और अधिक बढ़ाकर अपने ग्राम, नगर, जनपद, प्रदेश या राष्ट्र तक ले जाता है। तब उसे अपने ग्रामवासी, नगरवासी, जनपदवासी, प्रदेशवासी या राष्ट्रवासी का सुख-दुःख अपना सुख-दुःख प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य सारे विश्व के साथ एकत्व मान ले, सारे विश्व के लोगों में अपने आत्मा को देखने लगे, तो विश्वभर के लोगों का सुख-दुःख उसका अपना सुख-दुःख बन जाएगा। तब वह कभी इन्हें घृणास्पद स्थिति में देखकर भी इनसे घृणा नहीं करेगा, अपितु इनसे स्नेह करेगा, इनकी सेवा-शुश्रूषा करेगा, आवश्यकता होने पर इन्हें अपने घर में स्थान देगा।

अपने आत्मा के एकत्व की सीमा को हम जितना बढ़ाते चलें, उतना ही हमारे ममत्व का विस्तार होता चलेगा। हम और

अधिक आगे बढ़ें, तो प्रत्येक प्राणी में अपने आत्मा को देख सकते हैं। तब प्रत्येक प्राणी का, पशु-पक्षियों का, कीट-पतङ्गों का, शेर-चीते-भेड़ियों का, साँप-बिच्छुओं का कष्ट भी हमारा अपना कष्ट बन जाएगा। तब हम किसी भी प्राणी को घृणा की अवस्था में देखकर भी उससे घृणा नहीं करेंगे, अपितु उसे पालेंगे, पोसेंगे, उसकी परिचर्या करेंगे। इसीलिए उपनिषद् ने मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है कि सबको अपने आत्मा के अन्दर देखो और सबके अन्दर अपने आत्मा को देखो।

शिष्यो, शायद तुम पूछो कि यह दुहरी बात क्यों कही गयी है—'सबको अपने आत्मा में देखना और अपने आत्मा को सबमें देखना?' इन दोनों में क्या कुछ अन्तर है? हाँ, यह साभिप्राय कहा गया है। जब हम कहते हैं कि—'सबको अपने आत्मा के अन्दर देखो' तब अपना आत्मा आधार है और सब मनुष्य आधेय हैं। आशय यह होता है कि सब मनुष्य, क्योंकि मेरे आत्मा के अङ्ग हैं, इसलिए मेरा आत्मा जो कुछ प्रशंसनीय कार्य करता है, उसमें भागीदार वे भी हैं। किन्तु जब हम कहते हैं कि—'सब मनुष्यों में अपने आत्मा को देखो' तब सब मनुष्य आधार होते हैं और हमारा आत्मा आधेय होता है। तब यह आशय होता है कि अन्य मनुष्य जो कुछ प्रशंसनीय या निन्दनीय कार्य करते हैं, उनका भागीदार मैं भी हूँ। जब मेरे प्रशंसनीय कार्य दूसरों के भी माने जाएँगे और दूसरों के निन्दनीय कार्य मेरे भी माने जाएँगे, तब दूसरों से घृणा करने का कोई अवसर नहीं रहता, क्योंकि मैं तथा दूसरे मनुष्य एक-समान ही प्रशंसनीय या निन्दनीय कार्यों के कर्त्ता सिद्ध हो गये। दूसरों से घृणा करने का अवसर तो तब है, जब मैं प्रशंसास्पद होऊँ और दूसरे निन्दास्पद। यह सच है कि अच्छा या बुरा काम करनेवाला मनुष्य एकमात्र स्वयं उसका उत्तरदायी नहीं होता, अपितु सारा समाज किसी-न-किसी रूप में उत्तरदायी होता है।

गुरुजी, आपने श्रुतिवाक्य के आधार पर कहा है कि जब सब प्राणी अपना आत्मा ही लगने लगते हैं, तब मोह या शोक नहीं रहता। इसे खोलकर समझाने की कृपा करें।

देखो, जिसे हम अपना मानते हैं, उसके प्रति हमारा मोह होता है और जिसे पराया मानते हैं, उसके प्रशंसनीय कर्म भी हमें शोकाकुल करते हैं, क्योंकि उसकी उन्नति से हमें ईर्ष्या होती है। परन्तु जब सभी अपने हो जाते हैं, तब किसी विशेष व्यक्ति के

प्रति हमारा ममत्व या मोह नहीं होता, न ही किसी व्यक्तिविशेष से द्वेष होता है। जब किसी से हमें द्वेष नहीं होता, तब दूसरों के अच्छे कार्य हमें प्रसन्न ही करते हैं, नकि शोकाकुल। इस प्रकार अपने आत्मा का सीमा-विस्तार करके जो सबको अपना समझता है, वह जैसे अपनी उन्नति चाहता है, वैसे ही दूसरों की भी चाहता है। यह सबको अपना समझने की भावना यदि सारे विश्व के लोगों में आ जाए, तो सब लड़ाई-झगड़ों का अन्त हो जाए, युद्धों की विभीषिकाएँ समाप्त हो जाएँ और सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य छा जाए॥५॥

पाठ-६

फिर भगवान् की ओर

शिष्यो, बीच में आत्मसाधना की बात कहकर फिर भगवान् की ओर आते हैं। असल में अब तक जो कुछ कहा गया है, सबके साथ भगवान् का विचार किसी-न-किसी रूप में जुड़ा हुआ है। आत्मसाधना की बात भी इसीलिए कही गयी है कि वह भगवत्प्राप्ति में सहायक है। भगवान् की पहचान कुछ बतायी जा चुकी है, कुछ अब बताते हैं।

[१२]स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

"वह परमात्मा चारों ओर व्यापक है, तेजस्वी है, कायारहित है, फोड़ा-फुंसी-घाव से रहित है, नस-नाड़ियों से रहित है, शुद्ध है,

---

१२. (सः) वह परमात्मा (परि-अगात्) चारों ओर गया हुआ है, सर्वव्यापक है। वह (शुक्रम्) दीप्तिमान् या तेजस्वी है [शुच दीप्तौ]। वह (अकायम्) कायारहित है। वह (अव्रणम्) घाव से रहित है। वह (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों से रहित है। वह (शुद्धम्) शुद्ध है। वह (अपापविद्धम्) पाप से नहीं बिंधता। वह (कविः) क्रान्तदर्शी एवं वेदकाव्य का कवि है। वह (मनीषी) बुद्धिमान् एवं मनस्वी है। वह (परिभूः) दुर्जनों का परिभव, अर्थात् तिरस्कार करनेवाला है। वह (स्वयंभूः) स्वयं सब कार्यों का अधिष्ठाता होनेवाला है। वह (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) सनातन वर्षों से (याथातथ्यतः) यथातथरूप में, अर्थात् जैसा चाहिए वैसा (अर्थान्) पदार्थों को (व्यदधात्) रचता चला आया है।

वह पाप से विद्ध नहीं होता। वह कवि है, क्रान्तद्रष्टा है। वह मनीषी है। वह दुष्टों का तिरस्कार करनेवाला है। वह स्वयंभू है। वह शाश्वत वर्षों से यथातथरूप में पदार्थों का निर्माण करता चला आया है।''

भगवान् वाणी का विषय नहीं है, तो भी उसकी ओर प्रवृत्ति हो सके, इसके लिए उसका कुछ खाका खींचना आवश्यक है। वह चारों ओर गया हुआ है, सर्वव्यापी है। वह धरती पर भी है, आकाश में भी है, घने जङ्गलों में भी है, अन्धेरी गुफाओं में भी है। अतः यह सम्भव नहीं है कि कोई मनुष्य उससे छिपकर पाप कर्म कर ले और उसके दण्ड का भागी न हो। वह सर्वत्र विद्यमान रहकर सबके शुभाशुभ कर्मों को देखता हुआ सत्कर्म का सुफल और दुष्कर्म का दुष्फल प्रदान करता है। वह 'शुक्र' है, देदीप्यमान है, तेजोमय है। उसी के तेज से अग्नि, विद्युत्, सूर्य, तारे सब तेजोमय बने हुए हैं, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हो रहे हैं।

इतना महत्त्वशाली होता हुआ भी वह 'कायारहित' है, निराकार है, बिना देह ही सब कुछ करता है। जगत् की रचना करता है, व्यवस्था करता है, समय आने पर संहार करता है। यदि उसका शरीर होता, तो जगत् का संचालन कर ही नहीं सकता था। उसके हाथ होते, तो कहाँ-कहाँ उन्हें पहुँचाता? कैसे पहुँचाता? उसकी आँखें होतीं, तो कैसे ओट में आयी वस्तु को देखता? आगे आँखें होतीं, तो पीछे का कैसे देखता? सर्वदर्शी कैसे कहलाता? जब उसकी काया ही नहीं है, तब काया के धर्म घाव, फोड़े-फुंसी, सिर-दर्द, ज्वर आदि भी भला कैसे हो सकते हैं? वह कायारहित है, तो काया के अङ्ग-प्रत्यङ्ग नस-नाड़ी, पेट, जिगर, तिल्ली आदि भी कैसे हो सकते हैं?

वह शुद्ध है, पवित्र है, निर्मल है। वह इतना शुद्ध है कि सम्पर्क में आनेवालों को भी अपनी शुद्धता से शुद्ध-पवित्र कर देता है। वह पहले भी शुद्ध था, आज भी शुद्ध है और भविष्य में भी सदा शुद्ध रहेगा। शुद्ध होने के कारण ही उसे 'अपापविद्ध' भी कहा गया है। मनुष्य वर्त्तमान में शुद्ध हो, तो भी भविष्य में उसके पापविद्ध होने की आशङ्का बनी रहती है। परन्तु प्रभु सदा 'अपापविद्ध' ही रहते हैं।

प्रभु 'कवि' हैं, क्रान्तद्रष्टा हैं, दूरदर्शी हैं—**कविः क्रान्तदर्शनो भवति** (निरुक्त १२।१२।७)। वेदरूप काव्य का काव्यकार होने

से भी वह कवि है। प्रभु 'मनीषी' है, मनस्वी है, पारदर्शी विचारों का अधीश्वर है, अद्भुत प्रज्ञा का धनी है। प्रभु 'परिभू' है, सबका परिभव या तिरस्कार करके सर्वोपरि विराजमान है। वह बड़े-से-बड़े दस्युओं को तिरस्कृत करके मिट्टी में मिला देता है। प्रभु 'स्वयंभू' है, स्वयं सर्वशक्तिमान् बना हुआ है। अपनी शक्तिशालिता के लिए वह किसी अन्य पर निर्भर नहीं है।

प्रभु सृष्टि के आरम्भ से अब तक यथोचित रूप में पदार्थों की रचना करता चला आया है। उसने सूर्य को जैसा चाहिए था, वैसा ही बनाया है। उसने चाँद को जैसा चाहिए था, वैसा ही बनाया है। उसके कर्तृत्व में कोई कमी नहीं है। कहते हैं कि कोई अफीमची खिरनी के एक विशाल वृक्ष के नीचे विश्राम करता हुआ कहने लगा कि ईश्वर की मूर्खता तो देखो कि इस विशाल वृक्ष के ऊपर छोटे-छोटे खिरनी के फल लगा दिये हैं और खेत में फैली हुई छोटी-सी बेल पर बड़े-बड़े तरबूज बैठा दिये हैं। तभी उसकी नाक पर ऊपर से एक खिरनी का फल टूटकर गिरा। तब वह चिल्ला उठा—कैसी बुद्धिमत्ता है भगवान् की! यदि खिरनी के इस वृक्ष पर तरबूज जैसा बड़ा फल लगा होता और वह टूटकर मेरे ऊपर गिरता, तो मेरा तो भुर्ता बन गया होता। यह एक दृष्टान्त है इस बात का कि प्रभु ने सब पदार्थों को यथोचित ही बनाया है।

तो शिष्यो, भगवान् की कुछ निशानी उपनिषद् के अनुसार मैंने तुम्हें बतायी है। अन्य निशानियाँ तुम्हें स्वयं पता लग जायेंगी, जब तुम अपने हृदय में उसकी अनुभूति करोगे।

गुरुजी, इस मन्त्र पर मन में एक शङ्का उठ रही है। 'स पर्यगात्' में परमात्मा के लिए 'सः' शब्द तो पुंलिङ्ग है, किन्तु आगे उसके विशेषण 'शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्' नपुंसक लिङ्ग में हैं। ऐसा क्यों है? विशेषण और विशेष्य में एक ही लिंग होते हैं, यह हमें आपने ही बताया था।

शिष्यो, तुम्हारी इस शङ्का को सुनकर मुझे प्रसन्नता हो रही है। अब इसका उत्तर भी सुनो। कभी-कभी पुंलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के साथ विशेषण नित्य नपुंसकलिङ्ग के समान नपुंसकलिङ्ग में व्यवहृत होते हैं। तब उन नपुंसकलिङ्ग विशेषणों के साथ 'वस्तु' शब्द अध्याहृत करना होता है। 'परमात्मा शुक्रं वस्तु',

'परमात्मा अकायं वस्तु,' 'परमात्मा अव्रणं वस्तु,' 'परमात्मा शुद्ध वस्तु।' अर्थात् परमात्मा ज्योतिष्मान् वस्तु है, परमात्मा कायारहित वस्तु है, परमात्मा घावरहित वस्तु है। 'परमात्मा शुद्ध है' यह कहने की अपेक्षा 'परमात्मा शुद्ध वस्तु है' यह कहने में अधिक बल है। 'शुद्ध वस्तु है' ऐसा प्रयोग करने में यह आशय होता है कि शुद्धता का कोई ठोस पिण्ड बना दिया जाए, जैसा है।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध की एक अन्य व्याख्या भी की जाती है। वह यह कि शुक्रम्, अकायम् आदि विशेषण नहीं हैं, प्रत्युत 'सः' कर्त्ता और 'पर्यगात्' क्रिया के 'कर्म' हैं तथा द्वितीया विभक्ति के रूप हैं। 'सः' से वह मनुष्य अभिप्रेत है, जिसकी रूपरेखा छठे और सातवें मन्त्र में खींची गयी है, अर्थात् वह मनुष्य जो सब प्राणियों को अपने आत्मा में देखता है और सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखता है; साथ ही जो इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे सब प्राणी अपने आत्मा ही लगने लगते हैं। वह मनुष्य (पर्यगात्) प्राप्त कर लेता है, उस परमात्मा को जो शुक्र है, अकाय है, अव्रण है, अस्नायु है, शुद्ध है और अपापविद्ध है। आगे 'कविर्मनीषी' आदि उत्तरार्ध में परमात्मा का ही वर्णन है कि वह परमात्मा कवि, मनीषी आदि है।

शिष्यो, मेरी बात को हृदयङ्गम कर लिया न तुमने? हाँ, आचार्यजी, हम पूर्णतः समझ गये हैं॥ ६॥

पाठ-७

विद्या और अविद्या

शिष्यो, कल तुम्हें भगवान् के विषय में कुछ बताया था कि किन-किन गुणों से वह युक्त है और किन-किन बातों से वह रहित है। आज प्रभु-प्राप्ति से ही सम्बद्ध विद्या और अविद्या की चर्चा करेंगे।

[१३]अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥ ९॥

---

१३. (अन्धं तमः) गाढ़ अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये) जो (अविद्यां) केवल अविद्या को (उपासते) उपासते हैं। (ततः भूयः इव) उससे भी अधिक (ते) वे लोग (तमः) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं], (ये उ) जो (विद्यायां) केवल विद्या में (रताः) रत रहते हैं।

[१४]अन्यदेवाहुर्विद्यया ऽ न्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् वि चचक्षिरे॥ १०॥
[१५]विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

"गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो अविद्या को उपासते हैं। उससे भी गहरे अन्धकार में वे प्रविष्ट होते हैं, जो विद्या में रत रहते हैं।"

"अन्य ही फल बताते हैं विद्या से, अन्य फल बताते हैं अविद्या से। ऐसा हम धीमान् जनों से सुनते आये हैं, जिन्होंने हमारे सम्मुख इस बात की व्याख्या की है।"

"विद्या को और अविद्या को, इन दोनों को जो एक-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तरकर अविद्या से अमृत पा लेता है।"

शिष्यो, बात आसानी से हृदय में पैठनेवाली नहीं है। सुनो, तुम्हें समझाता हूँ। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि यह विद्या और अविद्या क्या वस्तु हैं। विद्या तो ज्ञान को कहते हैं, यह तुम जानते हो। विद्या की थाह पाना कठिन है। विद्याएँ अनेक प्रकार की हैं। हम कितनी ही विद्याएँ सीख लें, कितना ही ज्ञान प्राप्त कर लें, वह समुद्र में बूँद के बराबर होगा। तो, विद्या से तो यहाँ ज्ञान अभिप्रेत है, पर अविद्या से अज्ञान अभीष्ट नहीं है। अविद्या शब्द 'न' और 'विद्या' से मिलकर बना है—**न विद्या अविद्या**। किन्तु 'न' का अर्थ हमेशा निषेध ही नहीं होता।

---

१४. (अन्यद् एव) अन्य ही फल (आहुः) कहते हैं (विद्यया) विद्या से, (अन्यद्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं (अविद्यया) अविद्या से, (इति) यह (शुश्रुम) हमने सुना है (धीराणां) धीर जनों का कथन (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तत्) इस बात की (वि चचक्षिरे) व्याख्या करके बतायी है।

१५. (विद्यां च) विद्या से, (अविद्यां च) और अविद्या को (तत् उभयं) इन दोनों को (यः) जो (सह) एक साथ (वेद) जानता है, जीवन में चरितार्थ करता है, वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युं) मृत्यु को (तीर्त्वा) तरकर (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) अमृत (अश्नुते) पा लेता है।

शास्त्रकारों ने 'न' के छह अर्थ बताये हैं।[१] उनमें से यहाँ 'तदन्यत्व' अर्थ है, अर्थात् 'उसी जाति का उससे भिन्न।' जब कोई किसी को आदेश देता है कि 'अब्राह्मण को ले आओ,' तब आदेश का पालन करनेवाला मनुष्य-जाति के ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को लाता है। ब्राह्मण से भिन्न तो दूसरी जातियों में भी हैं। जैसे पशु-जाति में शेर, बाघ, कुत्ता, बिल्ली एवं पक्षी-जाति में कोयल, कौआ, तीतर, बटेर, कबूतर आदि। पर लानेवाला किसी पशु या पक्षी को नहीं लाता, यद्यपि ब्राह्मण से भिन्न तो वे भी हैं। इसी प्रकार ज्ञान और कर्म एक जाति या वर्ग के हैं। 'अ-विद्या' कहकर जब हमने ज्ञान या विद्या का निषेध कर दिया, तब उसी जाति का उससे भिन्न बच रहा 'कर्म', जिसका अविद्या शब्द से यहाँ ग्रहण होता है, परन्तु सर्वत्र जहाँ भी शास्त्र में 'अविद्या' शब्द प्रयुक्त होगा, वहाँ उसका अर्थ 'कर्म' ही होगा ऐसा नहीं है, कहीं अज्ञान, अल्पज्ञान आदि अर्थ भी हो सकते हैं। परन्तु उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसङ्ग में अविद्या का अर्थ कर्म है, क्योंकि अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में 'कहाँ क्या अर्थ करें' इसके निर्णय के लिए प्रकरण आदि देखने पड़ते हैं। तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रस्तुत स्थल में विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म है। अब इसे प्रकृत में घटाते हैं।

जो लोग केवल अविद्या, अर्थात् कर्म की उपासना करते हैं, ज्ञान को बीच में नहीं लाते, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, अर्थात् दुर्गति पाते हैं। जिसने अपना यह लक्ष्य बना लिया है कि बस कर्म करना है, वह व्यक्ति 'कर्म अच्छा या बुरा है?' या 'उस कर्म को करने का क्या परिणाम होगा?' इस विचार में नहीं पड़ता। उसकी तो एक ही रट होती है—कर्म, कर्म, कर्म। परिणामत: कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान न होने से वह ऐसे भयङ्कर कर्म भी कर डालता है, जो स्वयं उसे तथा समाज को विनाश की ओर ले जानेवाले होते हैं। उदाहरणार्थ चोरी, हत्या, व्यभिचार, लूट-पाट आदि भी तो कर्म हैं। पर उनके करने से कर्त्ता को मृत्युदण्ड तक मिल सकता है और वह दूसरों की दृष्टि में तिरस्कार का भाजन भी बनता है और साथ ही समाज में भी

---

१. **अप्राशस्त्यं विरोधश्च तदन्यत्वं तदल्पता।**
तत्सादृश्यमभावश्च न अर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

अशान्ति फैलती है।

दूसरी बात श्रुति यह कहती है कि वे लोग उससे भी अधिक घोर अन्धकार में पड़ते हैं, जो केवल विद्या में रत रहते हैं। अकेली विद्या का उपासक मनुष्य ज्ञान तो खूब अर्जित कर लेता है, चारों वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, स्मृतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान सब कुछ पढ़ लेता है; परन्तु तदनुसार कर्म नहीं करता। वह और भी अधिक दुर्गति पाता है। ज्ञानविहीन केवल कर्म करनेवाला तो फिर भी किसी सीमा तक क्षम्य कहा जा सकता है, क्योंकि उसने असत्कर्म अज्ञानवश किये हैं। परन्तु ज्ञानी को तो यह विदित है कि कौन-सा कर्म शास्त्रसम्मत तथा अच्छा है और कौन-सा कर्म शास्त्रविरुद्ध तथा अकरणीय है। अतः वह तो अकरणीय कर्म करने पर और भी अधिक दण्डनीय ठहरता है। और यदि वह करणीय-अकरणीय कोई भी कर्म न करे, केवल ज्ञान में ही रमा रहे, तो भी शास्त्रविरुद्ध आचरण के कारण भयङ्कर पाप का भागी होता है, क्योंकि जिन शास्त्रों का उसने ज्ञान प्राप्त किया है, वे कर्म करने का आदेश देते हैं।

तो फिर अभीष्ट क्या है? अभीष्ट है जीवन में विद्या और अविद्या, अर्थात् ज्ञान और कर्म का समन्वय। ज्ञान भी अधिकाधिक अर्जित करे और तदनुकूल कर्म भी करे। ज्ञान और कर्म दो पंखों के समान हैं, जिनसे मनुष्य सांसारिक लक्ष्यपूर्ति का तो कहना ही क्या, मुक्तिलोक तक भी उड़कर जा सकता है।

यह सुन शिष्य बोले—इतना तो समझ में आ गया गुरुजी, परन्तु अन्त में आपने जो यह स्थापना की है कि जो मनुष्य विद्या और अविद्या, अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों को एक-साथ जीवन में घटाता है, दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु को तर जाता है और विद्या (ज्ञान) से अमृत पा लेता है; यह हमारे पल्ले नहीं पड़ गया। ठीक है, यह भी तुम समझ जाओगे, ध्यान से सुनो। गुरुजी ने कहा—देखो, कर्म का उपासक होने का अभिप्राय है, कर्म की पराकाष्ठा पर पहुँच जाना। कर्म की पराकाष्ठा है कर्म-अकर्म को जानकर निरन्तर निष्कामभाव से कर्त्तव्य कर्म करते जाना। जो ऐसा करता है, अर्थात् ज्ञानपूर्वक कर्म करता है, वह मृत्यु को तर जाता है, अर्थात् पग-पग पर

होनेवाली नैतिक मृत्युएँ उसकी नहीं होतीं। ज्ञान का उपासक होने का आशय है ज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाना। ज्ञान की पराकाष्ठा है जगत् और जीवात्मा के विषय में समस्त वेदितव्य को जानकर परमेश्वर की भी अनुभूति पा लेना। जो ऐसा कर लेता है, वह परमेश्वर के सान्निध्य में बैठकर जीवन्मुक्ति या आनन्दामृत का पान करता है। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों को एक-साथ जीवन में चरितार्थ करने से मानव मृत्युञ्जय भी हो जाता है और अमृतत्व भी पा लेता है, किन्तु दोनों की पृथक्-पृथक् उपासना से मनुष्य दुर्गतिग्रस्त ही होता रहता है।

गुरुजी, नैतिक मृत्यु क्या होती है! देह के छूट जाने से देह की मृत्यु होती है, यह तो जानते हो न? हाँ, गुरुजी! इसी प्रकार शास्त्रनिर्दिष्ट किसी मर्यादा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, गुरुजनों के सम्मान आदि को छोड़ देने से नैतिक मृत्यु होती है। कर्त्तव्यपरायण मनुष्य की नैतिक मृत्यु कभी नहीं होती। अब समझ गये गुरुजी, आभारी हैं हम आपके॥७॥

पाठ-८

सम्भूति और असम्भूति

शिष्यो, जो बात विगत पाठ में विद्या और अविद्या के सम्बन्ध में कही गयी थी, वही सम्भूति और असम्भूति के विषय में श्रुति कह रही है।

[१६]अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः॥१२॥
[१७]अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् वि चचक्षिरे॥१३॥

---

१६. (अन्धं तमः) गाढ़ अन्धकार में (प्र विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (ये) जो (असम्भूतिम्) असम्भूति की (उपासते) उपासना करते हैं। (ततः भूयः इव) उससे भी अधिक (ते) वे लोग (तमः) अन्धकार में [प्रवेश करते हैं], (ये उ) जो तो (सम्भूत्यां) सम्भूति में (रताः) रत होते हैं।

१७. (अन्यद् एव) अन्य ही फल (आहुः) कहते हैं (सम्भवात्) सम्भूति से, (अन्यद्) अन्य फल (आहुः) कहते हैं (असम्भवात्) असम्भूति से। (इति) ऐसा (शुश्रुम) हमने सुना है (धीराणां) धीरों का वचन (ये) जिन्होंने (नः) हमें (तद्) इस बात को (वि चचक्षिरे) व्याख्या करके बताया है।

[१८]सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयः सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते॥ १४॥

"घनघोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं, जो असम्भूति को उपासते हैं। उससे भी अधिक घोर अन्धकार में वे प्रविष्ट होते हैं, जो सम्भूति में रत रहते हैं।"

"सम्भूति से अन्य ही फल बताते हैं, असम्भूति से अन्य। ऐसा हमने धीमान् जनों से सुना है, जिन्होंने हमारे सम्मुख इसकी व्याख्या की है।"

"सम्भूति को और असम्भूति (विनाश) को, जो दोनों को एक-साथ जान लेता है, वह असम्भूति (विनाश) से मृत्यु को तरकर सम्भूति से अमृत पा लेता है।"

गुरुजी, जैसे आपने विद्या और अविद्या को समझाया था, वैसे ही सम्भूति और असम्भूति को समझा दीजिए। तब सारा रहस्य खुल जाएगा।

हाँ, शिष्यो, देखो! सम्भूति शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक सत्तार्थक 'भू' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बनता है। इस प्रकार सम्भूति का अर्थ होता है सत्ता। केवल सम्भूति की उपासना का आशय है प्रत्येक वस्तु को सत्, अर्थात् सदा विद्यमान रहनेवाली या नित्य समझना। अतः सम्भूति के उपासक लोग नित्य वस्तुओं को तो नित्य मानते ही हैं, साथ ही अनित्य वस्तुओं को भी नित्य मान बैठते हैं। उनकी भावना होती है कि यह जगत् सदा रहेगा; स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव सदा बने रहेंगे; हमारी धन-दौलत, हमारे रथ, बग्घी, कोठी, महल सदा बने रहेंगे; हमारा यह शरीर सदा बना रहेगा। परिणामतः उनमें यह भावना नहीं आ पाती कि यह देह तो एक दिन राख हो जानेवाला है; बड़ी कठिनाई से नर-तन मिला है, न जाने कब नष्ट हो जाए, जो कुछ धर्म-कर्म कर सकें जल्दी कर लो। इसके विपरीत वे यह सोचते हैं कि जब हमारा देह और परिवार आदि सदा बने रहेंगे, तो धर्म-कर्म करने की जल्दी क्या है? अतः वे कभी धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं करते,

---

१८. (सम्भूतिं च) सम्भूति को (विनाशं च) और असम्भूति को (यः) जो (तद् उभयं) इन दोनों को (सह) एक-साथ (वेद) जानता है, वह (विनाशेन) असम्भूति से (मृत्युं) मृत्यु को (तीर्त्वा) तरकर (सम्भूत्या) सम्भूति से (अमृतम्) अमृत को (अश्नुते) पा लेता है।

न किसी से सद्व्यवहार करते हैं। परिणामतः अपने दुष्कर्मों के कारण इस जन्म में तथा पुनर्जन्म में दुःख एवं दुर्गति के ही भागी बनते हैं।

सम्भूति से विपरीत असम्भूति है, अर्थात् विनाश या अनित्यता। ऊपर तीसरी कड़ी में 'असम्भूति' के स्थान पर सीधे 'विनाश' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इससे इसका अर्थ स्पष्ट खुल गया है। विनाश की उपासना का अभिप्राय है, प्रत्येक वस्तु को नाशवान् समझना, नित्य वस्तुओं को भी अनित्य मान लेना। असम्भूति या विनाश के उपासक लोग शरीर, बन्धु-बान्धव, जगत् आदि अनित्य वस्तुओं को तो नाशवान् मानते ही हैं, परन्तु जीवात्मा, जो वस्तुतः नित्य है, उसे भी नाशवान् समझ लते हैं और उनकी धारणा रहती है कि परमात्मा नाम की वस्तु भी यदि कोई है, तो वह भी नाशवान् है। आत्मा-परमात्मा को भी अनित्य मानने का यह परिणाम होता है कि वे न पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, न यह सोचते हैं कि जीवात्मा को किये हुए कर्मों के अनुसार अगले जन्म में फल भोगना पड़ेगा। परिणामतः धर्म-कर्म में उनकी कोई रुचि नहीं होती। अधार्मिक जीवन व्यतीत करने के कारण वे भी दुर्गति पाते हैं।

गुरुजी, आपने स्थापना तो यह की थी कि असम्भूति के उपासक घोर दुर्गति पाते हैं और उससे भी अधिक घोर दुर्गति में वे पड़ते हैं, जो सम्भूति के उपासक हैं। पर अभी आपने जो व्याख्या की है उससे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि दोनों एक-समान दुर्गति पाते हैं।

हाँ, शिष्यो, अधिक दुर्गति में पड़ने की बात समझाना तो मैं भूल ही गया था। वैसे तो असम्भूति और सम्भूति, अर्थात् विनाश और सत्ता या अनित्यता और नित्यता दोनों के ही उपासक भ्रान्त हैं, किन्तु इस दृष्टि से सम्भूति के उपासकों का अपराध अधिक है कि जीवात्मा-परमात्मा को नित्य मानते हुए भी उनका ध्यान इस ओर क्यों नहीं जाता कि कर्मफल भोगनेवाला जीवात्मा और कर्मफल देनेवाला परमात्मा, क्योंकि अविनाशी और नित्य हैं, इसलिए हमें दुष्फल से बचने के लिए सत्कर्म ही करने चाहिएँ, जिससे इस जन्म में और पुनर्जन्म में सत्फल पाने के ही पात्र बनें। अतएव सम्भूति के उपासक असम्भूति के उपासकों की अपेक्षा अधिक घोर दुर्गति पाते हैं।

ठीक है, यह तो समझ में आ गया गुरुजी! अब यह बताने की कृपा करें कि सम्भूति और असम्भूति दोनों की एक-साथ उपासना करने पर मनुष्य कैसे असम्भूति से मृत्यु को तरकर सम्भूति से अमृत पा लेता है?

देखो, सम्भूति और असम्भूति, अर्थात् नित्यता और अनित्यता की एक-साथ उपासना का अभिप्राय है कि नित्य वस्तुओं को नित्य मानना और जो अनित्य हैं उन्हें अनित्य समझना। इस प्रकार दोनों की समन्वित उपासना से मनुष्य ईश्वर-जीव-प्रकृति को नित्य तथा शरीर, बन्धु-बान्धव आदि को अनित्य समझेगा। उसकी यह भी धारणा होगी कि जीवात्मा अच्छे या बुरे जैसे कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है; जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उनका अगले जन्मों में मिलता है। इसलिए वह शुभ कर्म ही करेगा। साथ ही वह यह भी सोचेगा शरीर तो अनित्य है, न जाने कब शरीरान्त हो जाए, अतः जल्दी से जल्दी धर्म-कर्म, प्रभु-दर्शन आदि कर लो। इस प्रकार सम्भूति और असम्भूति दोनों में एक-साथ प्रवृत्ति शुभफलदायक होती है।

श्रुति ने कहा है कि असम्भूति से मृत्यु को तरकर सम्भूति से अमृत पा लेता है। असम्भूति, अर्थात् अपने शरीर तथा बन्धु-बान्धवों की अनित्यता या नाशवत्ता को हृदयङ्गम कर लेने से वह मृत्युभय से छूट जाता है, क्योंकि उसने यह पाठ पढ़ा हुआ है कि एक-न-एक दिन सबको मरना है। इस प्रकार वह मृत्यु को तर लेता है। साथ ही सम्भूति, अर्थात् ईश्वर एवं जीव की नित्यता को हृदयङ्गम करके जीवात्मा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार करके वह आनन्दामृत को पाकर कृतार्थ हो जाता है।

शिष्यो, एक बात और समझने की है। सम्भूति तथा असम्भूति की उपासना का यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे ब्रह्म की उपासना की जाती है, वैसे इन्हें देवी समझकर इनकी आराधना की जाए। उपासना शब्द 'उप' और 'आसना' से मिलकर बना है। 'उप' का अर्थ है समीप तथा 'आसना' का अर्थ है बैठना। किसी वस्तु का समीपता से दर्शन या उस वस्तु को पूरी तरह से हृदयङ्गम कर लेना ही उसकी उपासना कहलाती है, अतः विद्या-अविद्या या सम्भूति-असम्भूति की उपासना से आशय है इन्हें यथार्थरूप से जानकर यथायोग्य अपने जीवन में चरितार्थ करना।

शिष्यो, तुमने सब बात समझ ली है न? हाँ, गुरुजी, हम कृतार्थ हो गये हैं॥८॥

पाठ-९

सत्य का मुख सुनहरे ढक्कन से ढका है

शिष्यो, परसों और कल के पाठों से तुमने विद्या-अविद्या तथा सम्भूति-असम्भूति के मर्म को जानकर अपने जीवन में इनका समन्वय करना सीख लिया होगा। अब तुम इस योग्य हो गये हो कि प्रभु के समीप बैठकर उससे कुछ माँग सको! अत: आओ, श्रुति के स्वर में स्वर मिलाकर प्रार्थना करते हैं।

[१९]हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

"सुनहरे ढक्कन से सत्य का मुख ढका हुआ है। उसे हे पूषा प्रभु! तुम खोल दो, जिससे हम सत्यधर्म का दर्शन पा सकें।"

शिष्यो, क्या तुम इस प्रार्थना का रहस्य समझे? देखो, सत्य को देख पाना बड़ा कठिन है। सत्य का मुख सुनहरे ढक्कन से ढका हुआ है। किसी व्यक्ति को कलश में अमृत भरकर दिया गया, पर उसका ढक्कन ऐसा चमकीला और आकर्षक था कि पानेवाला व्यक्ति ढक्कन पर ही रीझकर रह गया, उसी को प्राप्तव्य वस्तु समझने लगा, ढक्कन खोलकर अमृत की बूँद चखने की उसने आवश्यकता ही नहीं समझी। ऐसी ही स्थिति अधिकतर सांसारिक लोगों की है। सत्य के ऊपर पड़े चमकीले आवरण पर ही वे मुग्ध हो जाते हैं, सत्य तक पहुँचते ही नहीं।

चोर को कोई अस्तेय का उपदेश करे, तो वह कहता है कि अस्तेय को मैं सत्य कैसे मानूँ? अस्तेय तो मुझे भूखा मार रहा था; जब से मैंने चोरी करना आरम्भ किया, मैं मालदार बन गया। तो पराये धन से धनवान् बनने का जो सुनहरा ढक्कन है, आकर्षण है, उससे अस्तेयरूप सत्य का मुख ढका हुआ है। चोर

---

१९. (हिरण्मयेन) सुवर्णमय, सुनहरे (पात्रेण) पात्र से, ढक्कन से (सत्यस्य) सत्य का (अपिहितं) ढका हुआ है (मुखम्) मुख। (तत्) उस पात्र को, ढक्कन को (त्वं) तू (पूषन्) हे पूषा प्रभु! (अपावृणु) खोल दे, (सत्यधर्माय) सत्यधर्म का (दृष्टये) दर्शन पाने के लिए।

उस ढक्कन को हटाने के लिए तैयार नहीं। आज राष्ट्रों में तस्करी का धन्धा इसी कारण जोर पकड़ रहा है, क्योंकि उससे अनायास बहुत-सा धन आता दीखता है। ढक्कन को हटाकर देखें, तो वास्तविक सत्य दीखे। अपने परिश्रम की कमाई पर सन्तुष्ट रहना ही वास्तविक सत्य है।

ऐसे ही अनित्य को नित्य समझना, अशुचि को शुचि समझना, दुःख को सुख समझना, अनात्मा को आत्मा समझना ये सब असत्य हैं। सत्य है अनित्य को अनित्य तथा नित्य को नित्य मानना, अशुचि को अशुचि तथा शुचि को शुचि मानना, दुःख को दुःख और सुख को सुख मानना, आत्मभिन्न को आत्मभिन्न तथा आत्मा को आत्मा मानना। इस सत्य तक हम, इस कारण नहीं पहुँचते, क्योंकि अनित्य आदि को नित्य आदि मानने में कोई आकर्षण है, उससे हमारी कोई सांसारिक अभिलाषाएँ पूर्ण होती हैं। बस, यह आकर्षक ढक्कन ही सत्य तक न पहुँचने देने की जड़ है।

मनु ने कहा है कि धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सच बोलना, क्रोध न करना ये दस धर्म, अर्थात् प्राप्तव्य सत्य हैं। पर लोग व्यवहार में इन्हें धर्म या सत्य मानने को उद्यत नहीं, क्योंकि वही सुनहरा ढक्कन सत्य तक नहीं पहुँचने देता। सत्यस्बरूप परमेश्वर को ही ले-लें। उस तक पहुँचने में बाधक है आकर्षक विषय-भोगों का सुनहरा ढक्कन। जो मनीषी लोग होते हैं, वे सुनहरे ढक्कन को हटाकर सीधे सत्य तक जा पहुँचते हैं। महापुरुषों के जीवन-चरित्र इसके साक्षी हैं।

श्रुति-वाक्य में स्तोता प्रभु को आत्मसमर्पण करके प्रार्थना कर रहे हैं कि—हे प्रभु! तुम तो 'पूषा' हो, परिपुष्ट हो, बलवान् हो, सबका पोषण करनेवाले हो, तुम हमारे सामने से सत्य पर पड़े सुनहरे ढक्कन को हटा दो। प्राकृतिक जगत् में 'पूषा' सूर्य को कहते हैं, वह भी ढकनेवाले मेघ, कुहरे आदि को हटाकर पदार्थों को अपने सत्यरूप में प्रकट करता है। सत्य पर पड़े ढक्कन को तो हम स्वयं ही हटा सकते हैं। पर इसमें हम सफल तभी होंगे, जब पूषा प्रभु हमारे आत्मा में बल देंगे। हे प्रभु! हमें बल दो कि हम अपनी शक्ति को पहचानें और इस चमकीले आकर्षक ढक्कन को सत्य के कलश के ऊपर से उतार फेंकें। तब हमें दिव्य-ज्योति से जगमगाते हुए 'सत्य' के दर्शन होंगे।

तब हम कहेंगे कि हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि हमें असली पारस मणि मिल गयी है; यदि हम सत्य के बाह्य आवरण की चमक-दमक पर ही मुग्ध रहते, तो हम इस 'अमृत' से वञ्चित ही रह जाते।

शिष्यो, तुम भी यदि परम सत्य तक पहुँचना चाहते हो, तो श्रुति की इस तरङ्ग को हृदयङ्गम करो। पूषा प्रभु से शक्ति की याचना करो। तुम्हें सत्य को देखने की सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त होगी। सत्य तक न पहुँचने देने के लिए कोई कितना ही मायाजाल फैलाये, उस पर आकृष्ट मत होवो। अपनी पैनी दृष्टि से सत्य को देखो और उसे अपने जीवन का अङ्ग बना लो॥ ९॥

पाठ-१०

प्रभु का कल्याणतम रूप

शिष्यो, कल के पाठ में हमने पूषा प्रभु से प्रार्थना की थी कि वे सत्य के ऊपर पड़े हुए सुनहरे ढक्कन को हटाकर हमें सत्यधर्म का दर्शन करायें। आज भी हम पूषा प्रभु से ही कुछ निवेदन कर रहे हैं।

[२०]पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त्समूह।
तेजो यत् ते रूपं कल्याणतमं तत् ते पश्यामि।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥१६॥

"हे पूषन्, हे अद्वितीय ऋषि, हे यम, हे सूर्य, हे प्राजापत्य, बखेरो रश्मियों को, समेटकर केन्द्रित करो। जो तुम्हारा तेजोमय कल्याणतम रूप है, उसे मैं देखूँ। जो वह दूरस्थ (आदित्य में स्थित) पुरुष है, वह मैं हूँ।"

स्तोता और पूषा प्रभु की अन्तरङ्ग वार्त्ता हो रही है। प्रभु

---

२०. (पूषन्) हे पूषन्, (एकर्षे) हे अद्वितीय ऋषि, (यम) हे यम, (सूर्य) हे सूर्य, (प्राजापत्य) हे प्राजापत्य, (व्यूह) बखेरो (रश्मीन्) रश्मियों को, (समूह) केन्द्रित करो। (यत् ते) जो तुम्हारा (तेजः) तेजोमय (कल्याणतमं रूपम्) कल्याणतम रूप है (तत् ते) वह तुम्हारा (पश्यामि) मैं देखूँ। इस पर पूषा प्रभु उत्तर देते हैं—(यः असौ) जो वह (असौ) प्रसिद्ध आदित्यस्थ अथवा आत्मस्थ (पुरुषः) पुरुष है (सः) वह (अहम्) मैं (अस्मि) हूँ।

भौतिक तथा आध्यात्मिक पुष्टि के कर्त्ता होने से '**पूषा**' है। एक ऋषि, अर्थात् अद्वितीय द्रष्टा होने से '**एकर्षि**' है। नियन्त्रणकर्त्ता होने से '**यम**' है। सूर्य के समान प्रकाशमान एवं प्रकाशक होने से '**सूर्य**' है अथवा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ लें, तो ब्रह्माण्डचक्र को चलाने के कारण 'सूर्य' है—**सुष्ठु ईरयति चालयति ब्रह्माण्डचक्रम् इति सूर्यः।** सब प्रजापतियों (जन-स्वामियों) का हितकारक होने से '**प्राजापत्य**' है। उस पूषा प्रभु से स्तोता प्रार्थना कर रहा है कि तुम अपनी रश्मियों को हमारे ऊपर बखेरो और हमारे आत्मा में उन्हें केन्द्रित करके आत्मा को दिव्य-ज्योति से ज्योतित कर दो; जैसे पूषा नामक भौतिक सूर्य अपनी किरणों को ग्रह-उपग्रहों पर बखेरता है और उनमें केन्द्रित करके उन्हें प्रकाशित करता है। पूषा, एकर्षि, यम, सूर्य, प्राजापत्य ये सब भौतिक आदित्य के नाम भी हैं। भौतिक आदित्य भी पोषक होने से 'पूषा', अद्वितीय दर्शयिता होने से 'एकर्षि', अपनी आकर्षणशक्ति से लोक-लोकान्तरों का नियन्त्रणकर्त्ता होने से 'यम' और प्रजापति परमेश्वर का पुत्र होने से 'प्राजापत्य' है। आदित्यवाचक नामों से प्रभु को स्मरण करने से प्रभु के तेजस्विता, प्रकाशकता आदि गुण विशेषरूप से भासित हो जाते हैं।

साधक कहता है कि—हे प्रभु, मैं तुम्हारे तेजोमय कल्याणतम रूप का दर्शन करना चाहता हूँ। प्रभु उत्तर देते हैं—मेरे रूप की कुछ झाँकी पाना चाहते हो तो आदित्यमण्डल की ओर निहारो। उसे देखकर तुम्हारे मन में किसी ऐसे परम पुरुष की कल्पना होती है न, जो उस आदित्यमण्डल का संचालन करता है। उस आदित्य में जो पुरुष तुम्हें दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ। और बाह्य आदित्य में ही क्यों, तुम्हारा आत्मारूप जो आदित्य है, उसमें भी मैं ही बैठा दीखूँगा। मैं ही आत्मा को बल देता हूँ, ज्ञान-प्रकाश देता हूँ, विवेक देता हूँ। मेरा भौतिकरूप तो कोई है नहीं, जगत् के सूर्य, चन्द्र आदि विलक्षण पदार्थों तथा शरीर के आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियों आदि देवों में तुम मेरी कुछ झाँकी पा सकते हो। इनमें तुम्हें मेरा कल्याणतम रूप दृष्टिगोचर होगा, क्योंकि इनमें मेरी ही दी हुई शक्ति है।

शिष्यो, तुम भी तो प्रभु के कल्याणतम रूप को देखने की लौ लगाये हुए हो। उस कल्याणतम रूप को देखने का उपाय प्रभु ने स्वयं बता दिया है। सारी प्रकृति, जगत् की प्रत्येक वस्तु, सूर्य,

चन्द्र, अग्नि, वायु, विद्युत्, तारामण्डल, नदियाँ, समुद्र, बादल सब प्रभु के स्वरूप का बखान कर रहे हैं, सबमें प्रभु के रूप की झाँकी है। तुम भी देखो, जी-भरकर देखो और निहाल हो जाओ ॥ १० ॥

पाठ-११

ओ३म् का स्मरण कर

शिष्यो, इससे पूर्व के पाठ में हमने पूषा प्रभु को स्मरण किया था। इस पाठ में श्रुति का एक उद्बोधन सुनो।

[२१]**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।**

ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर॥ १७॥

"वायु और अनिल अमर हैं और यह शरीर अन्त में भस्म हो जानेवाला है। अतः हे कर्मशील, प्रज्ञाशील, सङ्कल्पशील नर, तू 'ओम्' का स्मरण कर, अपने कृत कर्म का स्मरण कर। हे क्रतो, तू 'ओम्' का स्मरण कर, कृत कर्म का स्मरण कर।"

शिष्यो! तुम्हें नित्य और अनित्य का विवेक करना होगा, कौन अमर है और कौन मरणधर्मा है, यह जानना होगा। श्रुति कहती है कि 'वायु' और 'अनिल' अमर हैं। 'वायु' वेद में परमात्मा का एक नाम है—**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः** (मा० यजुः ३२।१, काण्व० ३५।२३)। 'वायु' शब्द 'वा' धातु से बना है, जिसके अर्थ गति और हिंसा हैं (वा गतिगन्धनयोः)। परमात्मा प्रकृति में या परमाणुओं में गति देता है, जिससे जगत् की रचना होती है। गन्धन, अर्थात् हिंसा अर्थ लें तो परमात्मा जगत् का संहार भी करता है। 'अनिल' का अर्थ है, प्राणक्रिया करनेवाला जीवात्मा—**अनिति प्राणिति इति अनिलः**

---

२१. (वायुः) परमाणुओं में गति देकर जगत् की रचना करनेवाला तथा जगत् का संहार करनेवाला परमेश्वर और (अनिलम्) प्राणधारी-जीवात्मा (अमृतम्) अमर वस्तुएँ हैं। (अथ) और (इदं शरीरम्) यह शरीर (भस्मान्तं) अन्त में भस्म हो जानेवाला है। इसलिए (क्रतो) हे कर्म, प्रज्ञा और सङ्कल्प के धनी मनुष्य, तू (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर। (कृतम्) अपने किये हुए कर्म का (स्मर) स्मरण कर। (क्रतो) हे यज्ञशील पुरुष, (स्मर) तू ओ३म् का स्मरण कर, (कृतं स्मर) किये हुए कर्मों का स्मरण कर।

जीवात्मा (अन प्राणने)। ये दोनों अमर हैं और शरीर का अन्त राख में हो जाना है। जो शरीर सब बन्धु-बान्धवों का प्यारा बना हुआ था, उसे आत्मा के उसमें से निकल जाने के बाद अपने ही बन्धुजन श्मशान में जलाकर राख कर देते हैं। इसलिए हर समय नाशवान् शरीर को स्मरण करते रहने से कुछ कार्यसिद्धि नहीं होगी। अमर जीवात्मा को अमर **'ओ३म्'** का स्मरण करना चाहिए, **'ओ३म्'** का जप करना चाहिए, **'ओ३म्'** का मनन करना चाहिए। **'ओ३म्'** के अ, उ, म् इन तीन अक्षरों में परमेश्वर के अन्य सब नाम अन्तर्निविष्ट हैं। भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ की त्रिलोकी अन्तर्निविष्ट है, त्रिलोकी के तीनों देव अग्नि, वायु, आदित्य अन्तर्निविष्ट हैं, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय अन्तर्निविष्ट है। 'ओ३म्' का स्मरण मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम को उन्नत करके मोक्ष दिलानेवाला है। अतः हे क्रतो, हे कर्मशील, हे प्रज्ञाशील, हे उच्च सङ्कल्पवाले, हे यज्ञशील, तू **'ओ३म्'** का स्मरण कर। (क्रतु=कर्म, प्रज्ञा, सङ्कल्प, यज्ञ)। तू पूछेगा, मैं किसलिए **ओ३म्** का स्मरण करूँ? तू सामर्थ्य पाने के लिए, शक्ति पाने के लिए, संसार में कुछ कर दिखाने की क्षमता पाने के लिए **'ओ३म्'** का स्मरण कर। मनुष्य जिसे स्मरण करता है, वैसा ही हो जाता है। यदि तू शक्तिपुञ्ज **'ओ३म्'** का स्मरण करेगा, तो स्वयं भी शक्तिपुञ्ज बन जाएगा। तुझसे कोई भी असुर लोहा नहीं ले सकेंगे। साथ ही तू अपने 'कृत' को भी याद कर, भूतकाल में तू जो कुछ करता रहा है, उसे भी स्मरण कर। यदि भूतकाल में तेरी उपलब्धियाँ उज्ज्वल रही हैं, तो तू उन पर गर्व कर सकता है, परन्तु यदि तेरा अतीत जीवन गौरवहीन रहा है, तो तू आज से उस त्रुटि को दूर करने में जुट जा। विश्वसम्राट् **'ओ३म्'** तेरे सहायक होंगे।

शिष्यो, क्या तुमने वेद के इस उद्बोधन को सुना, हृदय में बैठाया? यदि सचमुच तुमने इसे हृदयङ्गम कर लिया है, तो तुम बड़ी-से-बड़ी विपत्ति को तर जाओगे, बड़ी-से-बड़ी बाधा को लाँघ जाओगे, **'ओ३म्'** में रमकर अवधूत हो जाओगे। संसार तुम्हारे सम्मुख सिर झुकाएगा, तुम्हारे गौरवगीत गाएगा॥ ११ ॥

पाठ-१२

सुपथ से ले चल

शिष्यो, कल का पाठ याद है न, जिसमें '**ओ३म्**' के स्मरण की प्रेरणा दी गयी थी। अन्तिम पाठ में श्रुति 'अग्नि' नाम से प्रभु को स्मरण करके उससे याचना कर रही है। क्या याचना कर रही है, सुनो।

[२२]अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

"हे अग्ने, ले चलो हमें सुपथ से, जिससे हम ऐश्वर्य पा सकें। हे देव, तुम हमारे सब प्रज्ञानों तथा कर्मों को जाननेवाले हो। पृथक् कर दो हमसे कुटिलता को और पाप को। हम बहुत-बहुत आपको नमस्कार करते हैं।"

शिष्यो, 'अग्नि' परमेश्वर का एक सुन्दर नाम है। वह अग्रनेता, ज्ञानस्वरूप तथा आग के समान प्रकाशमान प्रकाशक एवं कल्मषसंहारी होने से अग्नि कहलाता है। अग्निकुण्ड में ऊर्ध्वमुख ज्वालाओं से जलती हुई यज्ञाग्नि को देखो, तो उसमें परमेश्वर की झाँकी पा जाओगे। उस अग्नि प्रभु से हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें सन्मार्ग से ले चलो। क्यों ले चले वह सन्मार्ग से? क्योंकि सन्मार्ग पर चलने से ऐश्वर्य मिलता है। चाहे भौतिक ऐश्वर्य हो, चाहे आध्यात्मिक ऐश्वर्य हो; चाहे सांसारिक धन-दौलत हो, चाहे मोक्षानन्द की दिव्य सम्पदा हो; उसके लिए सही राह पर चलना आवश्यक है।

ज्यों ही हम कोई अच्छा या बुरा विचार मन में लाते हैं, ज्यों ही कोई भ्रान्त या निर्भ्रान्त ज्ञान हमें होता है, ज्यों ही हम अपने विचार को या ज्ञान को क्रिया में परिणत करते हैं, त्यों ही प्रभु उसे जान लेता है। ज्यों ही हम कोई कुटिल करतूत करना चाहते

---

२२. (अग्ने) हे अग्नि प्रभु, (नय) ले चलो (सुपथा) सुपथ से (राये) ऐश्वर्य के लिए (अस्मान्) हमें। तुम हमारे (विश्वानि) सब (वयुनानि) प्रज्ञानों और कर्मों को (देव) हे देव, (विद्वान्) जानते हो। (युयोधि) पृथक् कर दो (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलता को और (एनः) पाप को। हम (भूयिष्ठां) बहुत अधिक (ते) आपके लिए (नमः उक्तिं) नमस्कारोक्ति (विधेम) करते हैं।

हैं अथवा कोई पाप या अपराध करना चाहते हैं, त्यों ही प्रभु उसे जान लेता है। जिसे हमारे पाप विचारों एवं पाप कर्मों का ज्ञान ही नहीं है, वह भला हमें उनसे कैसे बचा सकता है? प्रभु को, क्योंकि हमारी सब गतिविधियों का ज्ञान रहता है, अतः उसी से हम याचना करते हैं कि वह हमारे मन की और व्यवहार की सब कुटिलताओं को तथा पाप की वैचारिक एवं क्रियात्मक काली करतूतों को हमसे दूर कर दे।

परन्तु प्रभु से अपनी बात मनवाना आसान नहीं है। वह उसी प्रार्थना को सुनता है, जो सच्चे हृदय से निकली होती है, जो आत्मसमर्पण-पूर्वक कही गयी होती है, जिसमें प्रभु के प्रति हार्दिक नमस्कार की भावना होती है। अतः आओ, नतमस्तक होकर प्रभु के सम्मुख अपने भावभीने उद्गार प्रकट करें, अपने मन, मस्तिष्क और आत्मा को प्रभु के प्रति झुकाकर विनति करें, अपने दोषों, अपराधों और पापों को बिना छिपाये उसकी शरण में जाएँ। हमारी याचना सफल होगी, प्रभु हम पर द्रवित होंगे, हमारे कुटिलता के चक्रों एवं पापों को हमसे दूर करके हमें पावन कर देंगे।

शिष्यो, यह ईशोपनिषद् की कथा समाप्त होती है। आशा है तुम्हें इससे कुछ उपलब्धि हुई होगी, इसमें जीवन-निर्माण की कुछ सामग्री मिली होगी।

हम कृतार्थ हुए गुरुवर! यह उपनिषद् की वाणी चामत्कारिक है, जादूभरी है और इसके व्याख्याता आप भी अनोखे जादूगर हैं, जिन्होंने हमारे मनों पर जादू-सा कर दिया है और अपनी प्रभावोत्पादक वाणी से हमारे मन मोह लिये हैं। हम व्रत लेते हैं कि इस उपनिषद् के सार को अपने जीवन में चरितार्थ करेंगे। प्रणाम, गुरुजी!॥ १२॥

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' का क्या आशय है? उपनिषद् इस परिणाम पर कैसे पहुँचाती है?

२. द्वितीय मन्त्र के आधार पर वैदिक कर्मयोग पर प्रकाश डालिए।

३. असुर्य लोक कौन-से हैं? उन्हें कौन लोग प्राप्त करते हैं?

४. चतुर्थ और पञ्चम मन्त्र में वर्णित ईश्वर के स्वरूप-सम्बन्धी विरोधाभास का समाधान कीजिए।

५. सब भूतों को अपने आत्मा में और सब भूतों में अपने आत्मा को देखने का क्या अभिप्राय है? उसका क्या फल होता है?

६. ईशोपनिषद् के आधार पर परमेश्वर का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

७. विद्या और अविद्या क्या हैं? उनकी पृथक्-पृथक् तथा समन्वित उपासना का क्या फल होता है?

८. सम्भूति और असम्भूति क्या हैं? उनकी पृथक्-पृथक् तथा समन्वित उपासना का क्या फल होता है?

९. हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है, इसका तात्पर्य स्पष्ट कीजिए।

१०. पूषा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए। उससे क्या प्रार्थना की गई है?

११. वायु और अनिल अमृत हैं, शरीर भस्मान्त है। स्पष्ट कीजिए। क्रतु कौन है? उसे किसका स्मरण करना चाहिए?

१२. अग्नि कौन है? उससे क्या प्रार्थना की गई है?

१३. ईशोपनिषद् कहाँ से ली गई है? वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद के ४०वें अध्याय तथा ईशोपनिषद् में क्या अन्तर है?

ओ३म्

२. केनोपनिषद्

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥

ओ३म् आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि, सर्वं ब्रह्मौपनिषदं, माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु, तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परब्रह्म परमेश्वर एक-साथ हम गुरु-शिष्यों की रक्षा करे, एक-साथ हम गुरु-शिष्यों की पालना करे। एक-साथ हम दोनों वीर्य का सञ्चय करें। हम दोनों का अध्ययन तेजस्वी हो। हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें।

मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और इनका बल बढ़े और सब इन्द्रियाँ बढ़ें। उपनिषत्प्रोक्त ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है। मैं उस ब्रह्म को छोड़ूँ नहीं, नाही ब्रह्म मुझे छोड़े। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो! आत्मा के ब्रह्म में निरत होने पर जो उपनिषदों में धर्म कहे गये हैं, वे मुझमें आयें, वे मुझमें आयें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हम गुरु-शिष्यों को शारीरिक शान्ति प्राप्त हो, मानसिक शान्ति प्राप्त हो, आत्मिक शान्ति प्राप्त हो।

अब सामवेदीय केनोपनिषद् प्रारम्भ होती है। इसके आदि में 'केन' शब्द होने से इसका नाम 'केन' पड़ा है। इसे तवलकारोपनिषद् भी कहते हैं, क्योंकि यह तवलकार आरण्यक से ली गयी है और तवलकार ऋषि ने इसे रचा है। शिष्यो, तुम पूछोगे, यह कैसा विचित्र नाम है? क्या इसका अर्थ है? देखो, 'कार' का अर्थ होता है 'कर्त्ता' या 'करनेवाला'। जो त-व-ल करनेवाला है, वह

तवलकार है। 'त' का अर्थ है 'तत्', अर्थात् वह परमात्मा। 'व' उस जीवात्मा को कहते हैं, जो सदा वर्त्तमान रहता है, नित्य होने के कारण कभी नष्ट नहीं होता—**वर्तते सदा इति वः**। 'ल' उस प्रकृतितत्त्व का नाम है, जिसमें सब जगत् प्रलयकाल में लीन हो जाता है—**लीयतेऽस्मिन् जगद् इति लः**। इस प्रकार जो ईश्वर, जीव, प्रकृति इन तीनों तत्त्वों को स्वयं जानकर इनका प्रचार करनेवाला है, उसे 'तवलकार' कहते हैं।

शिष्यों का प्रश्न—

तवलकार ऋषि तपोवन के अपने आश्रम में शिष्यों को पढ़ाया करते थे। एक दिन उन्होंने भाँपा कि उनके शिष्य कुछ दुविधा में पड़े हुए से प्रतीत हो रहे हैं। वे बोले—पुत्रो, आज क्या बात है, किस दुविधा में पड़े हो? शिष्यों ने उत्तर दिया—भगवन्, आज तक हम शरीर में मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र को ही सब-कुछ समझे बैठे थे। हम सोचते थे कि '**मन**' में बड़ी विलक्षण शक्ति है। 'मन' दूर से दूर की वस्तु का चिन्तन कर सकता है, भूत-वर्त्तमान-भविष्य सबके विषय में सोच सकता है। उसके लिए काल और मार्ग की दूरी रुकावट नहीं बनती। 'मन' के बिना आँख, नाक, कान आदि ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय का ग्रहण कराने में कारगर नहीं होतीं। हम सोचते थे कि '**प्राण**' कैसी अद्भुत वस्तु है। प्राण ही शरीर को जीवित रखता है, प्राण शरीर में न रहे, तो शरीर मृत हो जाता है। हम सोचते थे कि '**आँख**' कैसी जादूभरी वस्तु है। दो छोटी-सी डिबियों में कैसी करामात है? बाहर जो कुछ दृश्य होता है, सब आँख के पर्दे पर आ जाता है। जिनकी आँखें चली जाती हैं, उनके लिए संसार सूना हो जाता है। हम सोचते थे कि '**कान**' भी कैसे अनोखे हैं। जो कोई भी कुछ बोलता है, कानों के पर्दे उसे सुन लेते हैं। कान न हों तो माँ की प्यारभरी वाणी कैसे सुनायी दे? गुरु की उपदेशभरी वाणी को कौन सुने? गायकों के मनोहर गान हमें कैसे तृप्त करें? रेडियो, ट्रांजिस्टर व टेपरिकार्डर की भावभीनी ध्वनियों का हम कैसे आनन्द ले सकें? हम सोचते थे कि देह में '**जीवात्मा**' सबसे बड़ी वस्तु है। वस्तुतः जीवात्मा ही मन से मनन करता है, प्राण से जीवन-व्यापार करता है, आँखों से देखता, कानों से सुनता है। मन, प्राण, आँख, कान तो उसके साधनमात्र हैं। किन्तु हे गुरुवर, आज हमारे मानस में यह शङ्का उठ खड़ी

हुई है कि—"मानवदेह के अन्दर विद्यमान मन, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, रसना, नासिका, त्वचा, जीवात्मा इन सबको क्रियाशक्ति देनेवाला, प्रेरणा देनेवाला कौन है?"[१] यही दुविधा आज हमें कचोट रही है। हमारी शङ्का का निवारण कीजिए गुरुदेव! हमारे अपूर्ण ज्ञान को पूर्ण कीजिए आचार्यवर!

गुरुदेव का उत्तर—

गुरुदेव कहने लगे—पुत्रो, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। इससे पूर्व भी मैं तुम्हें इस विषय में उपदेश कर सकता था, किन्तु मैं तुम्हारी शङ्का की ही प्रतीक्षा कर रहा था। बिना शङ्का के ही एक के बाद दूसरा गम्भीर ज्ञान देते रहने से वह श्रोता के हृत्पटल पर स्थायीरूप से अङ्कित नहीं हो पाता। स्वयं शङ्का उत्पन्न होने पर उसके निराकरण के लिए जो कुछ कहा जाता है, वह जिज्ञासु के अन्दर स्थिर हो जाता है। तुमने पूछा है कि मन को कौन प्रेरित करता है, प्राण को कौन प्रेरित करता है, वाणी को कौन प्रेरित करता है, चक्षु और श्रोत्र को कौन प्रेरित करता है, जीवात्मा को कौन प्रेरित करता है? सुनो, "परमात्मा मन का भी मन है, प्राण का भी प्राण है, वाक् का भी वाक् है, चक्षु का भी चक्षु है, श्रोत्र का भी श्रोत्र है। जो उस परमात्म-ज्योति को हृदयङ्गम कर लेते हैं, वे इस लोक से मरने के बाद अमर हो जाते हैं।"[२]

इस पर शिष्य पूछने लगे—भगवन्, क्या हम उस परमात्मा के रूप को आँखों से देख सकते हैं, कानों से उसका शब्द सुन सकते हैं, नासिका से उसकी गन्ध सूँघ सकते हैं, रसना से उसका स्वाद ले सकते हैं, त्वचा से उसे छूकर अनुभव कर सकते हैं?

नहीं, नहीं, तुम गल्ती करते हो, आचार्य बोले। न वह चक्षु से ग्राह्य है, न रसना से ग्राह्य है, न वाणी का विषय है, न मन का विषय है। कोई कैसे उसका उपदेश कर सकता है? वह तो इन्द्रियों से परे की वस्तु है, इन्द्रियातीत है।[३]

---

१. **केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।**
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १॥

२. **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्, वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।**
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ २॥

३. **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः।**
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्॥ ३॥

न हम परमात्मा के विषय में यह कह सकते हैं कि उसे पूर्णरूप से जानते हैं, न यह कह सकते हैं कि उसे सर्वथा नहीं जानते, क्योंकि कुछ-न-कुछ तो उसके सम्बन्ध में जानते ही हैं। वह विदित और अविदित दोनों स्थितियों से परे की वस्तु है। ऐसा ही हम पूर्व व्याख्याता पुरुषों से सुनते चले आये हैं।[४]

जो वाणी से नहीं बुलता, जिससे वाणी बोलने की शक्ति पाती है, उसी को तुम ब्रह्म समझो। जिन पाषाणमूर्त्ति, सूर्य, चन्द्र आदि अन्य वस्तुओं को लोग ब्रह्म समझते हैं, वे ब्रह्म नहीं हैं।[५]

जो मन से मनन नहीं करता, जिससे मन मनन करने की शक्ति पाता है, उसी को तुम ब्रह्म समझो। जिन पाषाणमूर्त्ति, सूर्य, चन्द्र आदि अन्य वस्तुओं को लोग ब्रह्म समझते हैं, वे ब्रह्म नहीं हैं।[६]

जो आँख से नहीं देखता, जिसकी शक्ति से मनुष्य आँखों को दृष्टिशक्ति से युक्त करता है, उसी को तू बह्म समझ। जिन पाषाणमूर्त्ति, सूर्य, चन्द्र आदि अन्य वस्तुओं को लोग ब्रह्म समझते हैं, वे ब्रह्म नहीं हैं।[७]

जो कान से नहीं सुनता, जिससे कान श्रवणशक्ति पाता है, उसी को तू ब्रह्म समझ। जिन पाषाणमूर्त्ति, सूर्य, चन्द्र आदि अन्य वस्तुओं को लोग ब्रह्म समझते हैं, वे ब्रह्म नहीं हैं।[८]

जो प्राण से प्राणन-क्रिया नहीं करता, जिससे प्राण प्राणन-शक्ति पाता है, उसी को तू ब्रह्म समझ। जिन पाषाणमूर्त्ति, सूर्य, चन्द्र आदि अन्य वस्तुओं को लोग ब्रह्म समझते हैं, वे ब्रह्म नहीं हैं॥ १ ॥[९]

---

४. **अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि।**
इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे॥ ४॥

५. **यद् वाचा ऽ नभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

६. **यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ६॥

७. **यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ७॥

८. **यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ८॥

९. **यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ९॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्म के विषय में आचार्य का यह व्याख्यान सुनकर शिष्य सन्तुष्ट होकर बोले—ठीक है आचार्यप्रवर, अब हमें ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो गया; अब हमारे सन्देह मिट गये, आपने बड़ी कृपा की।

ब्रह्म को जानकर भी अजान

तब आचार्य शिष्यों पर तरस खाकर कहने लगे—यदि तुम यह मानते हो कि हमने ब्रह्म को भलीभाँति जान लिया, तब तो तुम निरे अबोध ही हो। यदि तुम्हारी यह भावना है कि हमने ब्रह्म को पूरी तरह समझ लिया है, तब तो तुम ब्रह्म के अत्यल्प स्वरूप को ही जान पाये हो। जितना तुमने उसके रूप को जाना है और जितना बड़े-बड़े विद्वान् लोग उसके रूप को जानते हैं, उसके बाद भी वह ब्रह्म तुम्हारे मीमांसा योग्य बना रहता है, मनन-चिन्तन किये जाने योग्य रहता है।[१०]

देखो, भले ही मैं तुम्हारा गुरु हूँ, पर मेरी भी यह मान्यता नहीं है कि मैंने उस ब्रह्म को पूर्णतः जान लिया है। किन्तु साथ ही मैं यह भी नहीं मानता कि मैं ब्रह्म के विषय में बिल्कुल कोरा हूँ, क्योंकि कुछ-न-कुछ तो जानता ही हूँ। हममें से जो भी ब्रह्मवेत्ता है, उसकी यही भावना होती है कि मैं ब्रह्म को नहीं भी जानता और जानता भी हूँ।[११]

आचार्य शिष्यों को और अधिक समझाते हुए बोले—देखो, जो ब्रह्म को अज्ञात समझता है, वही वस्तुतः उसे जानता है। परन्तु जिसे यह अभिमान होता है कि मैं तो ब्रह्मज्ञानी हो गया, वह असल में ब्रह्म को कुछ भी नहीं जानता। जिन्हें ब्रह्मविज्ञान का अहंभाव है, समझ लो उन्हें ब्रह्म अविज्ञात है। किन्तु जो ब्रह्म को जानकर भी यह मानते हैं कि हमने उसे कुछ भी नहीं जाना, वे ही वस्तुतः ब्रह्मज्ञानी हैं।[१२]

---

१०. **यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।**
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥ १॥

११. **नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।**
यो नस्तद् वेद तद् वेद नो न वेदेति वेद च॥ २॥

१२. **यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।**
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ ३॥

पुनः शिष्यों के मन में ब्रह्मज्ञान की बात को पूरी तरह बैठाने की दृष्टि से आचार्य कहने लगे—ब्रह्म प्रतिबोध से जाना जाता है। जब भक्त का सच्चा झुकाव भगवान् की ओर होता है, तब भगवत्कृपा से स्वयं उसे भगवान् का कुछ बोध हो जाता है। उसके बाद भी यह बोध की धारा विच्छिन्न नहीं होती। एक के बाद नया-नया बोध उत्पन्न होता चलता है और अन्ततः भक्त भगवान् के बिल्कुल निकट जा बैठता है। भगवद्-दर्शन का फल यह होता है कि उपासक अमृतत्व पा लेता है, उसके आत्मा में बल आ जाता है। निःसन्देह ब्रह्मज्ञान से उपासक को अमृतलाभ हो जाता है।[१३]

परन्तु हे जिज्ञासु शिष्यो, तुम यह मत समझना कि अभी तो आयु के बहुत दिन शेष हैं, अभी क्या जल्दी है, आयु पकने पर ब्रह्मज्ञान कर लेंगे और इस जन्म में न भी हो सका, तो अगले जन्म में कर लेंगे। इसी जन्म में यदि तुमने ब्रह्म का अनुभव कर लिया तब तो ठीक है, अन्यथा समझ लो महती विनष्टि सामने खड़ी है। जो बुद्धिमान् लोग होते हैं, वे संसार की प्रत्येक वस्तु में भगवान् को खोजते हैं, उसे पाकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं और इहलोक से प्रयाण करने के बाद अमर पद पा लेते हैं।[१४]

शिष्य गुरुदेव की वाणी से गद्गद हो गये, नतमस्तक होकर उन्हें प्रणाम किया और अहर्निश ब्रह्म की खोज में लवलीन रहने लगे। ज्यों-ज्यों वे ब्रह्म के निकट पहुँचते चलते थे, त्यों-त्यों उनकी यह भावना बढ़ती जाती थी कि ब्रह्म तो अपरम्पार है, हमने उसे अभी कुछ भी नहीं जाना। अपनी साधना से वे एक दिन सच्चे अर्थों में ब्रह्मज्ञ हो गये, प्रभु का प्रसाद उन्होंने पा लिया, वे अमर हो गये।

आओ, हम भी संसार की प्रत्येक वस्तु में प्रभु को खोजें और ब्रह्मज्ञ होकर प्रभु के प्रसाद के अधिकारी हों॥ २॥

---

१३. **प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते ऽमृतम्॥ ४॥**

१४. **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ ५॥**

तृतीय खण्ड

विजय किसकी?

प्रकृति में चारों ओर विजय और उल्लास दिखायी दे रहा है। फूल-फूल, पत्ती-पत्ती आनन्द से थिरक रहे हैं। नदियाँ कल-कल करके विजय के गीत गा रही हैं। वृक्ष पुष्पमालाएँ लिये विजयोत्सव मना रहे हैं। आकाश में तारे जगमग कर रहे हैं, चाँद मुस्करा रहा है। सूर्य रश्मियाँ बखेर रहा है। बादल अमृत बरसा रहा है। सरोवरों में कमल खिले हैं। पहाड़ों पर झर-झर झरने बह रहे हैं। वन-उपवन रमणीक हो रहे हैं। चिड़ियाँ चहक रही हैं, मोर नाच रहे हैं। उषा खिलती है, सूर्यदेव दर्शन देते हैं, मध्याह्न आता है, सूर्यास्त होता है, रात्रि पदार्पण करती है। फिर वही हँसती-खेलती-जगमगाती उषा आकर क्रीडा करने लगती है। वसन्त अपनी अनोखी छटा लिये आता है, ग्रीष्म अपना ओज दिखाता है। वर्षा बहार लाती हैं, शरद् दर्शन देती है। हेमन्त का तुषार पड़ता है, शिशिर लीला करती है। प्रकृति का यह उल्लास और विजयोत्सव देखकर जिज्ञासु के मन में प्रश्न उठता है—यह उल्लास किस लिए? यह विजय किसकी? यह महिमा किसकी?

शिष्यो, जगत् में विद्यमान यह विजय वस्तुतः किसकी है, यह बताने के लिए उपनिषद् की कथा आरम्भ करते हैं।

मनोरम कथा

ब्रह्म ने विजय प्राप्त की, यह सोचकर कि मेरी विजय से अन्य सब देव भी विजयी हो जायेंगे। सचमुच ब्रह्म की विजय से सब देव महिमाशाली हो गये, किन्तु उन्हें अभिमान हो गया कि यह तो हमारी ही विजय है, हमारी ही महिमा है।[१५]

देवों के इस भाव को ब्रह्म जान गया। उनके अभिमान को चूर करने के लिए **'यक्ष'** के रूप में उनके सम्मुख प्रकट हुआ। देव नहीं जान सके कि यह यक्ष कौन है।[१६]

तब सब देवों ने मिलकर अग्नि से कहा—हे अग्नि, तुम

---

१५. ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये, तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्त-अस्माकमेवायं विजयो ऽ स्माकमेवायं महिमेति॥ १॥

१६. तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति॥ २॥

'जातवेदाः' हो, सब उत्पन्न पदार्थों को जाननेवाले हो; जाओ, तुम पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है। अग्नि ने कहा—अच्छा, मैं जाता हूँ। अग्नि उसके पास दौड़कर पहुँचा। यक्ष ने उससे पूछा—तू कौन है ? अग्नि ने अभिमान से कहा—मैं अग्नि हूँ, मैं 'जातवेदाः' हूँ। यक्ष ने पूछा—तुझमें क्या बल है ! अग्नि ने कहा—पृथिवी भर में जो कुछ भी है, उसे जला सकता हूँ। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा कि इसे जलाकर दिखा। अग्नि पूरे वेग के साथ उस पर झपटा, किन्तु उसे जला नहीं सका। वह वहीं से वापिस लौट आया और देवों से बोला कि मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।[१७]

अग्नि यक्ष को जानने में असफल हो गया, तब देवों ने **वायु** को कहा कि तुम जाकर पता करो कि यह यक्ष कौन है। वायु तेजी से उसके पास पहुँचा। यक्ष ने पूछा—तुम कौन हो ? वायु अभिमान से बोला—मैं 'वायु' हूँ, मैं 'मातरिश्वा' हूँ। यक्ष ने पूछा—तुझमें क्या पराक्रम है ? वायु ने कहा—पृथिवी भर में जो कुछ भी है, उसे मैं उड़ा सकता हूँ। यक्ष ने उसके सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा कि इसे उड़ाकर दिखाओ। वायु पूरे वेग से उस पर झपटा, किन्तु उसे उड़ा नहीं सका। वह वहीं से लौट आया और देवों को कहा कि मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है।[१८]

वायु को भी असफल हुआ देखकर देवों ने '**इन्द्र**' को

---

१७. **ते ऽग्निमब्रुवन् जातवेद एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति, तथेति॥ ३॥ तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत् कोऽसीति? अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥ ४॥ तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति? अपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥ ५॥ तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम्। स तत एव निववृते। नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति॥ ६॥**

१८. **अथ वायुमब्रुवन्, वायो एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति। तथेति॥ ७॥ तदभ्यद्रवत्, तमभ्यवदत् को ऽसीति? वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीद्, मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥ ८॥ तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति? अपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति॥ ९॥ तस्मै तृणं निदधावेतद् आदत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुम्। स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति॥ १०॥**

कहा—हे मघवन्, तुम पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है? इन्द्र ने कहा—अच्छा, मैं जाता हूँ। इन्द्र भी दौड़कर उसके पास पहुँचा, परन्तु इन्द्र के सामने से वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र उसे आकाश में खोजता फिर रहा था, तभी उसे एक स्त्री मिली, जो बहुत शोभायमान थी, उमा उसका नाम था। वह 'हैमवती' थी, स्वर्णाभूषण धारण किये थी। उससे इन्द्र ने पूछा कि यह यक्ष कौन है?[१९] ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

उमा ने इन्द्र को बताया कि यह ब्रह्म है। ब्रह्म की ही विजय से तुम सब देव महिमान्वित होते हो। तब इन्द्र ने जाना कि यह यक्ष ब्रह्म है।[२०]

देव अन्य भी हैं मित्र, वरुण, सविता, पूषा आदि। परन्तु अग्नि, वायु और इन्द्र ने यक्ष को ब्रह्म के रूप में समीपता से देखा तथा पहले जाना, इसलिए अग्नि, वायु, इन्द्र अन्य देवों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं।[२१]

इनमें भी इन्द्र अन्य देवों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, क्योंकि उसने यक्ष को ब्रह्म के रूप में निकटता से देखा तथा अग्नि और वायु से भी प्रथम जाना।[२२]

कथा का रहस्य

शिष्यों ने आचार्यमुख से यह कथा बड़े ध्यान से सुनी और कहने लगे—गुरुजी, यह कहानी तो बड़ी सुन्दर है, परन्तु इसके पात्र हमें स्पष्टतः समझ में नहीं आये। 'यक्ष' शब्द का क्या अर्थ है? अग्नि, वायु, इन्द्र कौन हैं? अग्नि तिनके को नहीं जला सका, वायु तिनके को नहीं उड़ा सका, इसका क्या रहस्य है? हैमवती

---

१९. **अथेन्द्रमब्रुवन्, मघवन्नेतद् विजानीहि, किमेतद् यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्, तस्मात् तिरोदधे॥ ११॥ स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु शोभमानाम् उमां हैमवतीम्। तां होवाच किमेतद् यक्षमिति॥ १२॥**

२०. **सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ १॥**

२१. **तस्माद् वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रः। ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुः, ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ २॥**

२२. **तस्माद् वा इन्द्रो ऽ तितरामिवान्यान् देवान्, स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति॥ ३॥**

उमा कौन है, जिसने इन्द्र को बताया कि यह यक्ष ब्रह्म है ?

आचार्य बोले—सब खुलासा करके बताता हूँ, ध्यान से सुनो। सृष्टि की सब वस्तुएँ विजय और उल्लास से थिरक रही हैं। यह विजय और उल्लास उनमें कहाँ से आया, यह उपनिषत्कार बताना चाहते हैं। सृष्टि की वस्तुओं के तीन प्रतिनिधि ले लिये हैं—अग्नि, वायु और इन्द्र। ये तीनों बाह्य सृष्टि (अधिदैवत) और शरीर के अन्दर की सृष्टि (अध्यात्म) दोनों में विद्यमान हैं। इनके माध्यम से ऋषि यह हृदयङ्गम कराना चाहते हैं कि न तो बाहर के देवों अग्नि, वायु, सूर्य, चाँद, बादल, समुद्र, वृक्ष-वनस्पति, नक्षत्रमण्डल आदि में अपनी स्वतन्त्र शक्ति है, न ही शरीर के अन्दर के देवों चक्षु, श्रोत्र, मुख, मन, मस्तिष्क, हृदय, उदर, हाथ-पैर आदि में अपनी स्वतन्त्र शक्ति है। यह सारा अधिदैवत और अध्यात्म जगत् अपने विजय, उल्लास, बल आदि के लिए ब्रह्म पर निर्भर है। इसी बात को समझाने के लिए उपनिषद् के ऋषि ने उपर्युक्त रोचक कथानक की रचना की है। कथानक के पात्रों का स्वरूप समझने के लिए निम्न चित्र उपयोगी होगा—

कथा के पात्र	अधिदैवत स्वरूप	अध्यात्म स्वरूप
अग्नि	आग	वाणी
वायु	हवा	प्राण
इन्द्र	आदित्य	आत्मा
उमा	प्रकृति	वेदमाता
यक्ष	पूज्य ब्रह्म	पूज्य ब्रह्म

जब सृष्टि के देवों को अहंकार हुआ कि हममें जो शक्ति है, वह हमारी ही विजय है, तब उनके अहंभाव को चूर करने के लिए 'यक्ष' प्रकट हुआ। 'यक्ष' शब्द पूजार्थक यज धातु से बना है, अतः इसका अर्थ है पूजनीय ब्रह्म। देवों ने अपने प्रतिनिधि अग्नि, वायु और इन्द्र चुने कि वे जाकर पता लगायें कि यह यक्ष कौन है। प्राकृतिक जगत् (अधिदैवत) में 'अग्नि' आग है, उसमें जलाने की अपूर्व शक्ति है। उसके कारण वह विजय में झूम रहा है। किन्तु अग्नि यक्ष के दिये हुए तिनके को नहीं जला सका। अग्नि को जलाने की शक्ति तो यक्ष की ही दी हुई थी, वह उसने उससे छीन ली। वायु हवा है। यही किस्सा उसके साथ भी हुआ। वह तिनके को उड़ा नहीं सकी, क्योंकि यक्ष ने अपनी दी हुई उड़ाने की शक्ति उससे छीन ली। इन्द्र सूर्य का नाम है।

त्रिलोकी के देवों में सूर्य सबसे अधिक शक्तिशाली है। उसे यक्ष ने विफल नहीं करना चाहा, उसे भी विफल कर देता, तो देवों को ज्ञान कैसे होता कि किसकी विजय से हम विजयी हो रहे हैं। सूर्य के सामने यक्ष अन्तर्धान हो गया। सूर्य उसे खोजता फिरा। उसे 'उमा' नाम की स्त्री मिली, जो बहुत ज्योतिष्मती थी। 'उमा' शब्द उणादि (१।१४४) के अनुसार रक्षार्थक 'अव' धातु से मन् प्रत्यय करके बना है। अत: 'उमा' का शब्दार्थ है रक्षा करनेवाली। यह 'प्रकृति' है, जो जगत् की सब वस्तुओं में ओत-प्रोत रहकर उनकी रक्षा करती है। 'प्रकृति', जो सूर्य की माता है, उसने सूर्य को बताया कि यह यक्ष ब्रह्म है, ब्रह्म की ही विजय या महिमा से मैं भी और तुम सब देव भी विजयशाली और महिमाशाली हो रहे हैं। शिष्यो, सम्भवत: तुम्हारे मन में शङ्का उठ रही होगी कि अग्नि, वायु, इन्द्र और प्रकृति उमा तो जड़ पदार्थ हैं; इनका संवाद जो उपनिषत्कार ने कराया है, .कैसे सम्भव हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि कथा तो रोचक ढङ्ग से समझाने के लिए होती है। श्रोता या पाठक को उसका तात्पर्य हृदयङ्गम करना होता है।

यह सुन शिष्य कहने लगे—आचार्यवर, कथा का अधिदैवत आशय तो आपने व्याख्यात कर दिया; अब अध्यात्म अभिप्राय जानने की हमारी उत्सुकता है, उसे कृपया शान्त करें। सुनो, अध्यात्म अभिप्राय भी सुनो, यह कहकर गुरुजी ने व्याख्यान करना आरम्भ किया। देखो, शरीर में वाणी अग्नि का प्रतिनिधित्व करती है—**अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्** (ऐत० उप० २।४)। कथा को कुछ परिवर्तित करना होगा। वाणी के सामने यक्ष ने तिनका रखा और कहा कि इसका वर्णन करके दिखाओ। पर वाणी कुछ भी वर्णन न कर सकी। शरीर में वायु 'प्राण' है। प्राण किसी पदार्थ को नासिका, मुख आदि के मार्ग से शरीर के अन्दर ले जाने या बाहर निकालने का कार्य करता है। परन्तु प्राण तिनके को अन्दर नहीं ले जा सका। शरीर में जीवात्मा (इन्द्र) सबसे अधिक शक्तिशाली है। उसके सामने से यक्ष अन्तर्धान हो गया, क्योंकि उसे भी विफल कर देता, तो शरीरस्थ चक्षु, श्रोत्र, मन, प्राण आदि को यह कैसे ज्ञात होता कि हम किसकी विजय से विजयी हो रहे हैं। 'उमा' वेदमाता है—**स्तुता मया वरदा वेदमाता** (अथर्व० १९।७१।१)। जीवात्मा ने वेदमाता से यह जाना कि

यह यक्ष ब्रह्म है और इसी की महिमा से हम सब शरीरस्थ देव महिमान्वित हो रहे हैं, क्योंकि वेद में यत्र-तत्र ब्रह्म की महिमा का वर्णन मिलता है।

समझ गये गुरुजी, आपने बड़ी अच्छी तरह सब व्याख्यान कर दिया है। अधिदैवत जगत् और अध्यात्म जगत् दोनों में ही ब्रह्म की विजय दृष्टिगोचर हो रही है, उसी की विजय से अन्य सब देव विजयी हो रहे हैं। अब कृपा करके अधिदैवत और अध्यात्म दोनों क्षेत्रों में ब्रह्म के प्रकट होने के कोई दृष्टान्त बताने का कष्ट करें।

बिजली की चमक-झपक

गुरुजी कहने लगे। अधिदैवत या प्राकृतिक जगत् में आकाशंस्थ बिजली की चमक और झपक देखी है न तुमने! अन्तरिक्ष में बादल घिर आये हैं। अकस्मात् बिजली कौंधती है। इस कौंधने में दोनों सम्मिलित हैं, चमक भी और झपक भी। ऐसे ही ब्रह्म भी चमकता और झपकता है। अभी बादलों के समान अविद्या से आत्मपटल ढका हुआ है। सहसा बिजली-सी कौंध जाती है। यह क्या हुआ? यह ब्रह्म की चमक-झपक है। अन्तरिक्ष में विद्युत् के समान आत्मा में कौंधकर ब्रह्म ने यह दर्शा दिया कि मैं सदा अदृश्य रहनेवाला नहीं हूँ, तुम चाहो तो मेरे दर्शन भी कर सकते हो। अभी तो बिजली के समान तुमने मेरी कौंध ही देखी है, अविद्या के बादलों को सदा के लिए हटा दो, तो निरभ्र आकाश में सूर्य के समान तुम्हें मेरे सदा दर्शन होते रहेंगे।[२३]

मन का सङ्कल्प-विकल्प

अब अध्यात्म की बात समझो। शरीर में मन को देखा है न तुमने? कहाँ-कहाँ भागा-भागा फिरता है? पर सचमुच तो शरीर में से निकलता नहीं। आत्मा जब चाहे मन से ब्रह्म का स्मरण कर सकता है, निरन्तर भी ब्रह्मविषयक सङ्कल्प कर सकता है। अतः मन के माध्यम से भी किसी-न-किसी रूप में आत्मा को ब्रह्म का दर्शन सम्भव है।[२४]

---

२३. **तस्यैष आदेशो यद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इति। न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्॥ ४॥**

२४. **अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः॥ ५॥**

किस नाम से उपासें?

गुरुजी, हम उस ब्रह्म को किस नाम से उपासें? देखो, यों तो ब्रह्म के वेदवर्णित अनेक नाम हैं। पर यहाँ ऋषि '**वन**' नाम से उसकी उपासना करने को कह रहे हैं।

वैदिक कोष निघण्टु में वन धातु चाहने अर्थ में पठित है (वनोति कान्तिकर्मा २।६), अतः 'वन' का अर्थ है 'चाहने योग्य'। एवं ब्रह्म के '**वन**' नाम से यह सूचित होता है कि उसकी सबको चाहना करनी चाहिए, उससे सबको प्रेम करना चाहिए, सबको उसके पाने की इच्छा रखनी चाहिए। जो ब्रह्म की उत्कट चाहना करता है, प्यारे प्रभु से प्रीति जोड़ता है, उसे उसका फल यह प्राप्त होता है कि उसे भी सब लोग चाहने लगते हैं, उससे प्रीति जोड़ लेते हैं, वह सबका प्यारा हो जाता है।[२५]

ब्राह्मी उपनिषद् और उसके आधार, अङ्ग-प्रत्यङ्ग आदि

शिष्यो, तुमने कहा था कि हमें उपनिषद् का प्रवचन कीजिए। सो मैंने तुम्हें उपनिषद् का प्रवचन कर दिया। मैंने तुम्हें 'ब्राह्मी उपनिषद्' का प्रवचन किया है।[२६]

इस उपनिषद् की प्रतिष्ठा, अर्थात् आधारभूत बातें क्या हैं, अङ्ग कौन-से हैं और आयतन, अर्थात् निवासगृह कौन-सा है, यह भी मैं तुम्हें बताता हूँ।

इस ब्राह्मी उपनिषद् की प्रतिष्ठा, अर्थात् मूलभूत बातें हैं तप, दम और कर्म। ब्रह्म के सामीप्य को पाने के लिए पहले तपस्या करनी पड़ती है, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में एकरस रहने का अभ्यास करना पड़ता है। इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर जाने से रोकना होता है, इन्द्रिय-दमन करना होता है। सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि शास्त्रोक्त कर्म निष्कामभाव से करने होते हैं। इस साधना के पश्चात् ब्रह्म का दर्शन-लाभ मिलता है। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये सब वेद उस ब्रह्मविद्या के अङ्ग हैं, अर्थात् वेदों का अर्थदर्शन और उसमें प्रोक्त उपदेश को जीवन में चरितार्थ किये बिना ब्राह्मी उपनिषद् पूर्ण नहीं होती; ब्रह्मज्ञान

---

२५. **तस्य ह तद् वनं नाम, तद् वनमित्युपासितव्यम्। स य एतदेवं वेद-अभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥ ६॥**

२६. **उपनिषदं यो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद्। ब्राह्मी भाव त उपनिषदम् अब्रूमेति॥ ७॥**

प्राप्त नहीं होता; ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती। सत्य ब्रह्मविद्या का आयतन, अर्थात् निवास-मन्दिर है। मन, वाणी और कर्म तीनों से सत्य का अनुष्ठान किये बिना ब्राह्मी उपनिषद् ठहर नहीं सक़ती। जैसे निवासगृह के बिना मनुष्य घर से बाहर रहता हुआ सुरक्षित नहीं होता, ऐसे ही ब्राह्मी उपनिषद् या ब्रह्मविद्या सत्यरूप गृह के बिना सुरक्षित नहीं रह सकती।[२७]

शिष्यो, उपनिषद् के ऋषि ने ब्राह्मी उपनिषद् का वर्णन कर दिया। तुम पूछोगे कि इस उपनिषद् को सीख-पढ़ लेने से, जान लेने से, जीवन में चरितार्थ कर लेने से क्या फल प्राप्त होता है। इसका उत्तर सुनो।

फलश्रुति

जो इसे यथोक्तरूप में जान लेता है, अनुभव कर लेता है उसकी पाप-प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और वह अनन्त स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित हो जाता है, सचमुच प्रतिष्ठित हो जाता है।[२८]

यह 'अनन्त स्वर्गलोक' क्या वस्तु है गुरुजी! देखो, 'अनन्त' का अर्थ है अपार, 'स्वर्गलोक' से अभिप्रेत है आनन्द-लोक या वह अवस्था जिसमें आनन्द ही आनन्द है। यह स्थिति शरीरान्त से पूर्व जीवन्मुक्त दशा में भी हो सकती है और मरणोपरान्त मुक्तिदशा में भी। ब्रह्म का ज्ञाता निष्पाप होकर, दुःखों से छूटकर आनन्द में रमण करता है॥४॥

---

२७. **तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गानि। सत्यमायतनम्॥ ८॥**

२८. **यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानम् अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति॥ ९॥**

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. केनोपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है? इसका नाम 'केन' क्यों है? इसे तवलकारोपनिषद् क्यों कहते हैं?

२. इस उपनिषद् के प्रथम खण्ड में क्या प्रश्न उठाया गया है और आचार्य ने उस प्रश्न का क्या उत्तर दिया है?

३. ब्रह्मज्ञानी को अपने विषय में क्या कहना उचित है—'मैं ज्ञानी हूँ' या 'मैं अज्ञानी हूँ'?

४. विजय किसकी है? कथा द्वारा समझाइये।

५. कथा के पात्र अग्नि, वायु, इन्द्र, उमा, यक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

६. ब्रह्म की विजय के अधिदैवत और अध्यात्म दृष्टान्त समझाइये

७. ब्रह्म की 'वन' नाम से उपासना का क्या आशय है?

८. ब्राह्मी उपनिषद् के प्रतिष्ठा, सर्वाङ्ग और आयतन क्या हैं? ब्राह्मी उपनिषद् के ज्ञान का फल क्या है?

ओ३म्

३. कठोपनिषद्

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

गुरु और शिष्य मिलकर प्रार्थना करते हैं। परमेश्वर एक-साथ हम दोनों की रक्षा करे, एक-साथ हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक-साथ बल का सञ्चय करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

कठोपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठशाखा से सम्बन्ध रखती है, अर्थात् इसके रचयिता ऋषि कठशाखानुयायी थे। कुछ विद्वान् इस उपनिषद् का मूल ऋग्वेद के यमसूक्त (ऋ० १०।१४) को मानते हैं। सायणाचार्य ने ऋग्वेदीय दशम मण्डल के सूक्त १३५ को इस उपनिषद् के कथानक का मूल माना है। इस सूक्त में प्रयुक्त कुमार शब्द से वे कुमार नचिकेता का ग्रहण करते हैं। इस उपनिषद् का कथानक संक्षिप्तरूप से तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।११।८) में भी आया है। कठोपनिषद् में दो अध्याय है और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। इस प्रकार कुल छह वल्लियाँ हैं।

पहली वल्ली

नचिकेता की कहानी

बहुत पुरानी बात है। वाजश्रवस नामक एक सद्गृहस्थ थे, जो औद्दालकि आरुणि या गौतम भी कहलाते थे। उन्होंने उत्तम फल की कामना से अपना सब धन दान कर दिया। नचिकेता नाम का उनका एक पुत्र था (१)। वह अभी कुमार ही था। पिता द्वारा दान में दी गयी बूढ़ी गौएँ ले जायी जाते देखकर उसके अन्दर हितबुद्धि पैदा हुई (२)।

वह सोचने लगा—"इन गौओं ने जो पानी पीना था पी चुकी हैं, जो घास खानी थी खा चुकी हैं। अब इनमें खाने-पीने की शक्ति नहीं बची है। जो कुछ दूध देना था ये दे चुकी हैं। अब ये निरिन्द्रिय हो गयी हैं। ऐसी गौओं का दान करनेवाला तो

आनन्द-विहीन लोकों को ही प्राप्त करेगा (३)।''

यह सोचकर वह पिता से बोला—पिताजी, मुझे किसको दोगे? दुबारा पूछा। तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया। यह सुनकर पिता बोले—तुझे मैं मृत्यु (यमराज) के सुपुर्द करता हूँ (४)।

ऐसा सुनते ही नचिकेता यम के पास चल पड़ा। मार्ग में वह सोचता जाता था, ''बहुतों में मैं प्रथम होकर जा रहा हूँ, बहुतों में मध्यम होकर जा रहा हूँ। यम को न जाने क्या कार्य है, जो मुझसे आज सिद्ध करेगा (५)।'' अन्त में वह यम के पास पहुँच गया, किन्तु वहाँ उसकी किसी ने सुध ही नहीं ली। वह तीन रात भूखा-प्यासा यम की कुटिया पर बैठा रहा। इतने में यम को किसी ने सचेत किया—

''हे यम, पूर्वकाल को देख, सब लोग तेरे पास आते रहे हैं। भविष्य पर दृष्टिपात कर, अगले लोग भी इसी प्रकार तेरे पास आते रहेंगे। न जाने कब कौन तेरे पास आ पहुँचे? तो तू असावधान होकर क्यों बैठा है? देख, मनुष्य धान की तरह पकता है और धान की तरह पुनः पैदा होता रहता है (६)।[१] जब वैश्वानर अग्नि के तुल्य ब्राह्मण अतिथि घर में प्रवेश करता है, तब उसकी शान्ति किया करते हैं। तेरे घर में भी नचिकेता अतिथि होकर आया है। हे यम, उसके सत्कार के लिए जल ला (७)। जिस अल्पबुद्धि पुरुष के घर में ब्राह्मण भूखा रहता है, उसके आशा, प्रतीक्षा, प्राप्त सम्पत्ति, प्रिय सत्य वाणी, इष्टापूर्त[२], पुत्र, पशु सबको वह निष्फल कर देता है (८)।''

अब यम को चेत आया। वह बोला—''हे ब्रह्मन्, तू नमस्कार के योग्य अतिथि है, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। तू मेरी कुटिया पर तीन रात भूखा रहा है, इसलिए बदले में तू मुझसे तीन वर माँग ले, जिससे मुझे चैन मिल सके (९)।''

पहला वर

यम के मुख से ऐसा सुनकर नचिकेता बोला—''हे यम, मेरे

---

१. **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥**

२. इष्ट और पूर्त। अग्निहोत्र तप, सत्याचरण, यज्ञ-याग आदि निज कल्याण के कर्म इष्ट कहलाते हैं और कूप, जलाशय, बाग-बगीचे, धर्मशालाएँ बनवाना आदि सार्वजनिक हित के कार्य पूर्त कहे जाते हैं।

पिता गौतम (वाजश्रवस) मेरे प्रति शान्त सङ्कल्पवाले, शुभ मनवाले और क्रोधरहित हो जाएँ और तुझसे वापिस भेजे हुए मेरे साथ प्रसन्न होकर वार्त्तालाप करें, यह मैं तीन में से पहला वर माँगता हूँ (१०)।'' यम ने कहा—''हे नचिकेता, तू निश्चिन्त रह। तेरे पिता मेरी प्रेरणा से पहले की तरह प्रसन्न हो जाएँगे। अब वे क्रोधरहित होकर सुख की रातें सोयेंगे। उन्होंने तुझे मृत्यु के मुख से छूटा हुआ देख लिया है (११)।''

दूसरा वर

पुनः नचिकेता कहने लगा—''हे यम, मैंने सुना है कि स्वर्गलोक में कुछ भी भय नहीं है, न वहाँ तू है, न वहाँ बुढ़ापे का भय है। स्वर्गलोक में मनुष्य भूख-प्यास दोनों से अतिक्रान्त होकर, शोक को पार करके आनन्द से रहता है (१२)। जिस अग्नि (यज्ञविद्या) से वह स्वर्ग प्राप्त होता है, उसका हे यम, तूने अध्ययन किया हुआ है। मुझ श्रद्धावान् को उसका प्रवचन कर, यह मैं दूसरे वर से माँगता हूँ, क्योंकि स्वर्गलोक में पहुँचनेवाले लोग अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं (१३)।''

प्रत्युत्तर में यम ने कहा—''हे नचिकेता, स्वर्ग प्राप्त करानेवाली अग्नि (यज्ञविद्या) को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह मैं तुझे बताता हूँ, मुझसे तू उसे जान ले। वह अग्नि अक्षयलोक को प्राप्त करानेवाली और आधारभूत है, उसे तू गुहा में निहित (गूढ़ और रहस्यमय) समझ (१४)। यह कहकर यम ने स्वर्गलोक की आदि कारण उस अग्नि का नचिकेता के सम्मुख वर्णन कर दिया। यज्ञ में जो इष्टकाएँ (ईंटें) होती हैं, संख्या में जितनी होती हैं और जिस प्रकार वेदि में चयन की जाती हैं, वह सब भी उसे बतलाया।[1] नचिकेता ने भी जैसा यम ने उपदेश दिया था अक्षरशः वैसा ही उसे सुना दिया (१५)। इस पर सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर उस महात्मा ने पुनः नचिकेता को कहा कि तुझे मैं एक और वर अपनी ओर से देता हूँ। यह यज्ञ की अग्नि तेरे ही नाम से चल पड़ेगी, इसका नाम नाचिकेत अग्नि होगा और ले, यह रङ्गविरङ्गी

---

१. यहाँ इष्टकाएँ (ईंटें) उपलक्षणमात्र हैं। अभिप्राय यह है कि यज्ञ में जो वस्तुएँ काम आती हैं, उन सबका नचिकेता को ज्ञान दिया। कौन-सी वस्तु संख्या या मात्रा में कितनी ली जाती है और किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है, यह सब भी विस्तार से बताया।

रत्नमाला ग्रहण कर (१६)। जो मनुष्य त्रिनाचिकेत[1] होता है, तीन[2] के साथ मेल करता है, तीन कर्म[3] करता है, वह जन्म-मृत्यु को तर जाता है और वेदज्ञेय उपास्य देव परमात्मा को जानकर तथा उसका साक्षात्कार करके वह अत्यन्त शान्ति को पा लेता है (१७)। जो त्रिनाचिकेत होकर, यज्ञ के सम्बन्ध में तीनों[4] बातें जानकर, विद्वान् बनकर नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह मृत्यु के पाशों को काटकर परे फेंक देता है और शोकरहित होकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है (१८)। हे नचिकेता, यह तेरी स्वर्ग प्राप्त करानेवाली 'अग्नि' है, जिसे तूने दूसरे वर से वरा है। इस अग्नि को लोग तेरे ही नाम से कहा करेंगे। अब तू तीसरा वर माँग (१९)।''

तीसरा वर

नचिकेता कहता है—हे यम, मृत मनुष्य के विषय में संशय है। कुछ कहते हैं कि मरने के बाद भी वह रहता है, दूसरे कहते हैं कि नहीं रहता। आपका उपदेश पाकर मैं इस रहस्य को जान लूँ, यह वरों में मेरा तीसरा वर है (२०)।

यह वर मत माँग

नचिकेता के मुख से यह वर सुनकर यम कहने लगा—इस विषय में तो पहले देवों तक को संशय रहा है। यह सुविज्ञेय नहीं है, यह बहुत ही सूक्ष्म रहस्य है। इसलिए हे नचिकेता, तू कोई दूसरा वर माँग ले। इस वर के लिए मुझसे आग्रह न कर, इसे तू मुझ पर ही छोड़ दे (२१)।

---

१. त्रिणाचिकेतः। जिसने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है। अथवा जो नाचिकेत अग्नि का विज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान तीनों करनेवाला है—शङ्कराचार्य।

२. त्रिभिरेत्य सन्धिम्। तीन, अर्थात् माता, पिता और आचार्य अथवा वेद, स्मृति और शिष्टजन, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—शङ्कराचार्य।

३. त्रिकर्मकृत्। तीन कर्म यज्ञ, अध्ययन और दान—शङ्कराचार्य।

४. पूर्वोक्त तीनों बातें 'या इष्टका यावतीर्वा यथा वा (श्लोक १५)', अर्थात् इष्टकाएँ कैसी होनी चाहिएँ, संख्या में कितनी होनी चाहिएँ तथा किस प्रकार उनका चयन करना चाहिए—शङ्कराचार्य। इसी प्रकार यज्ञ की अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी तीनों बातें कि वे कैसी हों, कितनी हों तथा किस प्रकार प्रयोग में लायी जाएँ।

नचिकेता ने उत्तर दिया—जिसके विषय में देवों को भी संशय रहा है और जिसे हे यम, तू भी सुविज्ञेय नहीं कहता, उसका उपदेष्टा तेरे अतिरिक्त मुझे और कौन मिलेगा? न ही इसके तुल्य अन्य कोई वर हो सकता है, जो मैं इसे छोड़कर दूसरा माँगूँ (२२)।

तब यम कहने लगा—सौ वर्ष की आयुवाले पुत्र-पौत्र माँग ले, हाथी-घोड़े माँग ले, सुवर्ण माँग ले, भूमि का बड़ा विस्तार माँग ले, स्वयं भी जितने वर्ष चाहे जीवित रह ले (२३)। इसके बराबर जो भी दूसरा वर तू समझे, माँग ले। धन माँग ले, चिरजीविका माँग ले। हे नचिकेता, तू बड़ी भूमि का राजा बन जा, तुझे मैं इच्छानुसार भोगों को भोगनेवाला कर देता हूँ (२४)। मर्त्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं, उन सबको स्वच्छन्दता के साथ माँग ले। ये रथोंसहित, गाजे-बाजों सहित रमणियाँ विद्यमान हैं, ऐसी रमणियाँ सामान्य मनुष्यों को प्राप्त नहीं हो सकतीं। मुझसे दी हुई इन रमणियों से अपनी सेवा करवा ले, किन्तु हे नचिकेता, मरणविषयक प्रश्न मत कर (२५)।

मुझे तो यही वर चाहिए

परन्तु यम के इन प्रलोभनों से भी नचिकेता विचलित नहीं हुआ और उसने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया। हे यमराज, ये सब भोग तो कल तक ही रहनेवाले हैं और सब इन्द्रियों के तेज को ही हरते हैं और जीवन कितना भी पा लिया जाए, थोड़ा ही लगता है, अतः ये सब वाहन और नृत्य-गीत तेरे ही पास रहें, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं (२६)। मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता। क्या मैं धन पाना चाहूँगा, जबकि मैंने तुझे देख लिया है?[1] और क्या मैं लम्बे जीवन की इच्छा करूँगा, जबकि तू शासक है?[2] इसलिए मुझे तो अपना माँगा हुआ वर ही चाहिए (२७)। जराग्रस्त, मरणधर्मा, नीचे भूमि पर पड़ा हुआ कौन विवेकी मनुष्य होगा, जो तुझ-जैसे अजर-अमर देवों के पास पहुँचकर भी वैषयिक रूप-रति के प्रमोदों का चिन्तन करता हुआ

---

१. क्योंकि मृत्यु को सामने खड़ा देखकर धन किसी को नहीं सूझता।
२. जब तक संसार में यमराज का शासन है, सदा जीवित कोई नहीं रह सकता। जीवन कितना ही लम्बा मिल जाए, वह सान्त ही होगा, अतः लम्बा जीवन कौन पाना चाहेगा!

अतिदीर्घ जीवन में सुख माने (२८)। इसलिए हे यम, जिसके बारे में लोगों को बड़ा संशय है, जो महान् परलोक के विषय में है उसी के सम्बन्ध में तू मुझे बतला। यह वर जोकि बहुत गूढ़ है, उससे अतिरिक्त अन्य कोई भी वर नचिकेता माँगने के लिए तैयार नहीं है (२९)।

दूसरी वल्ली

श्रेय और प्रेय मार्ग

नचिकेता की सच्ची जिज्ञासा जानकर यम ने कहना आरम्भ किया। एक श्रेय मार्ग है, दूसरा प्रेय मार्ग है। दोनों के लक्ष्य पृथक्-पृथक् हैं। ये दोनों पुरुष को बाँधते हैं। इनमें से जो श्रेय का अवलम्बन करता है, उसका कल्याण होता है। जो प्रेय को चुनता है, वह अपने असली उद्देश्य से गिर जाता है (१)। श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान् परीक्षा करके उनमें भेद करता है। बुद्धिमान् प्रेय की अपेक्षा श्रेय को चुनता है, किन्तु मन्दबुद्धि मनुष्य योग-क्षेम देनेवाला होने से प्रेय को अधिक पसन्द करता है[1] (२)। हे नचिकेता, तूने प्रिय तथा मोहक रूपवाले सब विषयों को, उनकी असलियत पहचानकर, छोड़ दिया है। तू इस धन-दौलत की रत्नमाला पर आसक्त नहीं हुआ, जिस पर बहुत से मनुष्य रीझ जाते हैं (३)।

देख, विद्या और अविद्या (श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग) ये दोनों बिल्कुल विपरीत हैं, पृथक्-पृथक् फलों को देनेवाले हैं। मैं तुझे विद्या का अभीप्सु (श्रेयमार्ग का प्रेमी) मानता हूँ, क्योंकि तुझे बहुत से विषय-भोग भी लुभा नहीं सके (४)। अविद्या में (प्रेयमार्ग में) पड़े हुए, स्वयं को बुद्धिमान् और पण्डित माननेवाले जो मूढ़जन होते हैं, वे अन्धे से ले जाये जाते हुए, अन्धों की तरह ठोकरें खाते हुए मारे-मारे फिरते हैं[2] (५)। जो धन के मोह से मोहित होकर प्रमत्त हो रहा है, उस मूर्ख को परलोक नहीं भाता। 'केवल यही लोक है, परलोक नहीं है' ऐसा माननेवाला पुनः-पुनः मेरे वश में पड़ता है, बार-बार जन्म लेता है (६)।

---

१. **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।**
प्रेयो हि धीरो ऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ २॥

२. **अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।**
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५॥

बहुतों को जिसे सुनना भी नहीं मिलता, बहुत-से जिसे सुनते हुए भी नहीं समझ पाते, उस ब्रह्म का उपदेष्टा कोई विरला ही होता है। जिसने उसे पा रखा हो ऐसा कोई ही कुशल होता है। उस कुशल उपदेष्टा से उपदेश पाकर उसे समझ सकनेवाला भी विरला ही होता है (७)। साधारण मनुष्य से बतलाये जाने पर वह बहुत प्रकार से चिन्तन किया जाता हुआ भी सुविज्ञेय नहीं होता। जब तक वह असाधारण ज्ञाता द्वारा न बतलाया जाए तब तक उसमें गति नहीं होती। वह अणु से भी अणु है, तर्क से परे है (८)। यह मति (अध्यात्मबुद्धि) तर्क से प्राप्त नहीं होती, जो तूने पायी है। हे प्यारे, किसी असाधारण ज्ञाता द्वारा उपदेश किये जाने पर ही उत्कृष्ट ज्ञान मिलता है। हे नचिकेता, तू सच्ची आस्था-वाला है, तुझ-जैसा ही प्रश्नकर्त्ता मुझे फिर-फिर मिले (९)।

यम के इन प्रीतियुक्त वचनों को सुनकर नचिकेता बोला—हे यम, मैं जानता हूँ, यह धन-दौलत का खजाना अनित्य है, इन अध्रुव वस्तुओं से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती जो ध्रुव है। इसीलिए पहले (दूसरे वर से) मैंने नाचिकेत अग्नि का चयन किया था और उन अनित्य द्रव्यों को ग्रहण कर चुकने के बाद उन्हें छोड़कर अब मैं नित्य पर पहुँच गया हूँ (१०)।

इस पर यम पुनः कहने लगा। हे नचिकेता, इच्छाओं की पूर्ति को, जगत् के आधार को, यज्ञ के अनन्त फल को, निर्भयता के पार को, बड़ी स्तुतिवाले विस्तीर्ण स्थान (स्वर्ग) को और प्रतिष्ठा को सामने मिलता देखकर भी तुझ धीर ने बड़ी धीरता के साथ त्याग दिया है (११)। जो धीर पुरुष दुर्दर्श, गूढ़, गुहानिहित, गह्वर में स्थित उस पुरातन परमात्मदेव को अध्यात्मयोग द्वारा अनुभव कर लेता है, वह हर्ष-शोक से ऊपर उठ जाता है[1] (१२)। जो मनुष्य उस परमात्मा का श्रवण करके, उसे अपनाकर, उद्योग करके उस सूक्ष्म को पा लेता है, वह उस मोदनीय की प्राप्ति करके आनन्दमग्न हो जाता है। तुझ नचिकेता को मैं उसके प्रवेश के लिए खुला हुआ घर, अर्थात् सत्पात्र मानता हूँ (१३)।

नचिकेता ने कहा—हे यम, जो धर्म से भिन्न है, अधर्म से भिन्न है, कार्य से भिन्न है, कारण से भिन्न है, भूत से भिन्न है,

---

१. **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।**
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

भविष्य से भिन्न है, ऐसा जिसे आप देखते हो, उस ब्रह्म का मुझे उपदेश करो (१४)। तब यम ने कहना आरम्भ किया।

ओङ्कार का उपदेश

सब वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी महिमा का गान करते हैं, जिसे चाहते हुए लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह पद मैं तुझे संक्षेप से कहता हूँ 'ओम्' है[१] (१५)। यही अक्षर (अविनाशी) 'ओम्' ब्रह्म है, यही अक्षर 'ओम्' परम आत्मा है, इसी अक्षर 'ओम्' को जानकर मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह उसे मिल जाता है[२] (१६)। यह श्रेष्ठ सहारा है, यह परम सहारा है। इस सहारे को जानकर, अनुभव करके, मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमा पाता है[३] (१७)।

जीवात्मा की अमरता

हे नचिकेता, तूने पूछा था, मरने के बाद मनुष्य रहता है या नहीं? निश्चय जान, यह विपश्चित् जीवात्मा न जन्म लेता है, न मरता है। यह किसी से भी पैदा नहीं हुआ, संसार में कभी कोई जीवात्मा उत्पन्न नहीं हुआ। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है, शरीर के मर जाने पर भी यह नहीं मरता[४] (१८)। यदि प्रहार करनेवाला यह समझता है कि मैं जीवात्मा को मार दूँगा और जिस पर प्रहार किया जा रहा है वह समझता है कि जीवात्मा मर जाएगा, तो वे दोनों नासमझ हैं, क्योंकि न प्रहार करनेवाला जीवात्मा को मार सकता है और नाही जीवात्मा मर सकता है[५] (१९)।

फिर परमात्मा की ओर

यम आगे कहता है—पर यह जीवात्मा ही अन्तिम वस्तु नहीं

---

१. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १५॥

२. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

३. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

४. न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

५. हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १९॥

है। इस जीव की हृदयगुहा के अन्दर एक और आत्मा (परम-आत्मा) निहित है, जो अणु से अणु है और महान् से महान् है। मनुष्य अकाम और शोकरहित होकर मन आदि धातुओं के निर्मल हो जाने पर उस आत्मा (परम-आत्मा) की महिमा का दर्शन करता है[1] (२०)। वह परम-आत्मा बैठा हुआ भी दूर-दूर जाता है। वह लेटा हुआ भी सर्वत्र पहुँचता है। वह मदयुक्त भी है, मदरहित भी है। ऐसे उस देव को मेरे अतिरिक्त कौन जान सकता है[2] (२१)? वह परम आत्मा शरीरों के बीच अशरीरी है, अस्थिरों के बीच स्थिर है। धीर मनुष्य उस महान् विभु परम आत्मा को जानकर शोक से छूट जाता है[3] (२२)।

अपने कथन को प्रवृत्त रखता हुआ आगे यम कहता है। न यह परम आत्मा केवल प्रवचन से प्राप्य है, न केवल मेधा से, न केवल बहुत शास्त्रश्रवण से। जिसे यह स्वयं वरता है, उसी को प्राप्तव्य होता है। उसके सम्मुख वह अपने स्वरूप को खोल देता है[4] (२३)। जो दुश्चरितों से विरत नहीं हुआ, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हुईं, जो समाहित नहीं हुआ, जिसका मन शान्त नहीं हुआ, वह केवल प्रज्ञान (शास्त्रज्ञान) के सहारे इसे नहीं पा सकता[5] (२४)। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों उसके भात हैं, अर्थात् दोनों को वह एक दिन निगल लेता है, मृत्यु उसका शाक है, अर्थात् मृत्यु

---

१. **अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।**
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥

२. **आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।**
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥
यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है। बैठा हुआ भी दूर-दूर जाता है, अर्थात् हमारे हृदय में आसीन है, तो भी जगत् में दूर-दूर गया हुआ है। लेटा हुआ भी सर्वत्र पहुँचता है, अर्थात् हमारे अन्दर शयन किये हुए है, तो भी सर्वत्र विद्यमान है। वह आनन्दरूप होने से मदयुक्त भी है तथा सांसारिक जनों जैसे हर्ष-शोक से रहित होने के कारण मदरहित भी है।

३. **अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।**
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

४. **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ २३॥

५. **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।**
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २४॥

को भी खा जाने के कारण वह स्वयं अमर है। कौन उसे तात्त्विक रूप से जान सकता है कि वह किस प्रकार का है[१] (२५)?

तीसरी वल्ली

सत्य के पानकर्त्ता दो चेतन

कुछ देर रुककर यम पुनः कहने लगा—हे नचिकेता, सुकृत के लोक इस संसार में सत्य का पान करनेवाले दो हैं, जीवात्मा और परमात्मा। ये हृदयगुहा में प्रविष्ट हैं और उसमें भी परमोत्कृष्ट स्थान में स्थित हैं। ब्रह्मवित् लोग उन्हें छाया और धूप के समान परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धवाला बताते हैं। ऐसा ही वे भी कहते हैं, जो पञ्चाग्नियों[२] को प्रज्वलित करनेवाले तथा तीन बार[३] नाचिकेत अग्नि को चयन करनेवाले हैं[४] (१)। इन दोनों जीवात्मा और परमात्मा में से जो यज्ञकर्त्ताओं के लिए सेतुरूप है, जो अविनाशी परमब्रह्म है, भवसागर के पार उतरना चाहनेवालों के लिए जो अभय पद है, उस नाचिकेत (नचिकेता से वरे हुए) परब्रह्म का हम सबको पाने का यत्न करना चाहिए[५] (२)।

रथ का रूपक

अब यम नचिकेता को रथ के रूपक द्वारा समझाता है। हे नचिकेता, तू ऐसा समझ कि शरीर एक रथ है, आत्मा उस रथ का स्वामी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है[६] (३)। इन्द्रियों को घोड़े कहा गया है, विषय उनके चरागाह हैं, शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है, ऐसा मनीषी जन कहते हैं[७] (४)।

---

१. **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।**
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

२. पाँच अग्नियाँ—१. गार्हपत्य अग्नि, २. दक्षिणाग्नि, ३. आहवनीय अग्नि, ४. सभ्य अग्नि, ५. आवसथ्य अग्नि।

३. अर्थात् जिन्होंने तीन बार किन्हीं बड़े यज्ञों को किया है।

४. **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

५. **यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।**
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि॥ २॥

६. **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।**
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥

७. **इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।**
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४॥

जो बुद्धिरूप सारथि को सावधान नहीं रखता और इन्द्रियरूप घोड़ों पर मन की लगाम नहीं लगाये रखता, उसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं, जैसे दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं रहते[१] (५), परन्तु जो बुद्धिरूप सारथि को सावधान रखता है और इन्द्रियरूप घोड़ों पर मन की लगाम लगाये रखता है, उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं, जैसे अच्छे घोड़े सारथि के वश में रहते हैं[२] (६)।

जो अबुद्धियुक्त, अमनस्क और सदा अशुचि रहता है, वह विष्णु के परम पद मुक्तिधाम को नहीं प्राप्त कर पाता और संसार में जन्म लेता रहता है[३] (७), किन्तु जो बुद्धियुक्त, समनस्क और सदा शुचि रहता है, वह उस पद को पाता है, जिसे पाकर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है[४] (८)। जिसने बुद्धि को सारथि बना लिया है और मनरूप लगाम लगा ली है, वह मार्ग को पार करके विष्णु के परम पद को पा लेता है[५] (९)।

परमात्मा की प्राप्ति का उपाय

इन्द्रियों से विषय प्रबल हैं, विषयों से मन प्रबल है, मन से बुद्धि प्रबल है, बुद्धि से महान् आत्मा प्रबल है[६] (१०)। महान् आत्मा से अव्यक्त आत्मा प्रबल है, अव्यक्त आत्मा से पुरुष

---

१. **यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।**
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

२. **यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।**
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥

३. **यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।**
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥७॥

४. **यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।**
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥८॥

५. **विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।**
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥९॥

६. **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥१०॥
महान् आत्मा है शरीर में आया हुआ अपनी सब कलाओं सहित आत्मा, अव्यक्तात्मा कलाओं से रहित हुआ मुक्तात्मा है। ये दोनों जीवात्मा के ही रूप हैं। यह इससे भी स्पष्ट है कि आगे के वर्णन (श्लोक १५) में अव्यात्क्तात्मा को बीच में से निकाल दिया गया है। छठी वल्ली (श्लोक ७,८) में पुनः अव्यक्तात्मा सहित वर्णन है।

(परमात्मा) प्रबल है। पुरुष से प्रबल कुछ नहीं है, वह अन्तिम सीमा है, वह चरम गति है[१] (११)। यह पुरुष परमात्मा सब भूतों में छिपा बैठा है, प्रकाशित नहीं होता। जो सूक्ष्मदर्शी हैं, उनके द्वारा तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से वह देखा जा सकता है[२] (१२)।

बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अपने वाणी और मन को विषयों से रोके। उन वाणी-मन को बुद्धि में केन्द्रित करे। बुद्धि को महान् आत्मा में केन्द्रित करे और महान् आत्मा को शान्त आत्मा (परमात्मा) में केन्द्रित करे[३] (१३)। ऐसा करने के लिए उठो, जागो, श्रेष्ठों के पास पहुँचकर बोध पाओ। इस मार्ग को ज्ञानी जन बड़ा ही दुर्गम बताते हैं। इस पर चलना छुरे की तेज धार पर चलने के समान कठिन है[४] (१४)। वह परमात्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित है; व्ययरहित, रसरहित और सदा ही गन्धरहित है। अनादि है, अनन्त है, महान् आत्मा (जीवात्मा) से उत्कृष्ट है, ध्रुव है। जो उसके दर्शन कर लेता है, वह मृत्यु के मुख से छूट जाता है[५] (१५)।

यह उपदेश यम ने नचिकेता को दिया था। जो मेधावी मनुष्य यम से कहे हुए इस नाचिकेत उपाख्यान का दूसरों को प्रवचन करता है और जो मेधावी इसे श्रवण करता है, वह ब्रह्मलोक में महिमा पाता है[६] (१६)। जो स्वयं पवित्र होकर इस परम गुह्य रहस्यकथा को ब्रह्मसभा में या श्राद्धकाल में सुनाता है, वह अनन्त

---

१. **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।**
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

२. **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।**
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

३. **यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।**
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

४. **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।**
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ १४॥

५. **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्य यं तथा ऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।**
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ १५॥

६. **नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।**
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

फल पाता है, अनन्त फल पाता है[1] (१७)।

चौथी वल्ली

नचिकेता को कुछ चिन्तन करने का अवसर देकर यम ने फिर कहना आरम्भ किया।

स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियछिद्रों को बाहर की ओर खोला है, इसलिए मनुष्य बाहर विषयों की ओर ही देखता है, अन्दर अन्तरात्मा की ओर नहीं। विरला ही धीर होता है, जो अमृतत्व को चाहता हुआ चक्षु को बाहर से लौटाकर अन्तर्वर्ती आत्मा पर दृष्टि डालता है[2] (१)। बालबुद्धि लोग बाह्य विषयों की ओर भागते हैं। वे फैले हुए मृत्यु के पाश में पड़ते हैं। किन्तु जो धीर हैं, वे अमरत्व को जान लेते हैं और संसार की अध्रुव वस्तुओं में ध्रुव को नहीं खोजते, अर्थात् इन सांसारिक वस्तुओं में ही कोई ध्रुव वस्तु होगी, जो हमारा कल्याण करेगी, ऐसी भावना नहीं रखते[3] (२)।

इतना कहकर यम आगे **'देख, यह है वह'** इस प्रकार नचिकेता को पहले जीवात्मा का दर्शन कराता है, फिर परमात्मा का।

जीवात्म-दर्शन

मनुष्य जिससे रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शों को जानता है, वह यही जीवात्मा है, इसी से वह जानता है। इससे भला क्या कोई वस्तु अज्ञेय रही है! देख, यह है वह[4] (३)। स्वप्नलीला और जागृतलीला दोनों को जिससे देखता है, उस महान्, वैभवसम्पन्न जीवात्मा को जो धीर जान लेता है, वह शोक में नहीं पड़ता[5]

---

१. **य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते, तदानन्त्याय कल्पते॥ १७॥**
श्राद्धकाल में, अर्थात् श्रद्धा से किये जानेवाले घरेलू पर्वों या उत्सवों के समय।

२. **पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥**

३. **पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥**

४. **येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्॥ ३॥**

५. **स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥**

(४)। मनुष्य जब इस मधुभोगी (कर्मफलभोक्ता) जीवात्मा को, जो अपने भूत तथा भविष्य के कार्यों का स्वामी है, समीपता से जान लेता है, तब वह उससे मुँह नहीं फेरता। देख, यह है वह[१] (५)। जो जीवात्मा भौतिक शरीर धारण करके हृदयगुहा में स्थित उस परमात्मा के दर्शन करता है, जो तेज की उत्पत्ति से पहले विद्यमान था, जलों की उत्पत्ति से भी पहले विद्यमान था, देख, यह है वह[२] (६)। जो देवतामयी अदिति, अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, मन, बुद्धि आदि देवों से युक्त अमर एवं कर्मफलभोक्त्री जीवात्मशक्ति प्राण के साथ जन्म लेती है, अर्थात् शरीर धारण करती है, हृदयगुहा में प्रविष्ट होकर बैठी हुई जो पञ्चभूतों द्वारा जन्म लेती है; देख यह है वह[३] (७)।

परमात्म-दर्शन

हे नचिकेता, यह तो मैंने तुझे जीवात्मा के विषय में कहा; आ, अब मैं तुझे परमात्मा की झाँकी दिखाऊँ। देख, जातवेदाः अग्नि को तू जानता है न? वह दो अरणियों के अन्दर छिपा रहता है। उत्तरारणि और अधरारणि दोनों अरणियों के मन्थन या रगड़ से उसे यज्ञकुण्ड में प्रकट करके जागरूक हविष्मान् याज्ञिकजन उसमें हवि देते हुए उसकी स्तुति करते हैं। परमात्मा भी मानो सब उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला जातवेदाः अग्नि है, वह मन और आत्मारूप दो अरणियों के अन्दर प्रच्छन्नरूप से निहित है। गर्भिणियों के अन्दर गर्भ की तरह उनमें सुरक्षित है। मन और आत्मा की ध्यानरूप रगड़ के द्वारा जागरूक ध्यानीजन उसे प्रकट

---

१. **य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।**
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥५॥

२. **यः पूर्वं तपसो जातम् अद्भ्यः पूर्वमजायत।**
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद् वै तत्॥६॥

३. **या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।**
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत। एतद् वै तत्॥
अदिति शब्द 'दो अवखण्डने' धातु से बना है। दिति का अर्थ है, खण्डित होनेवाली, अर्थात् नाशवान्, अतः अदिति का अर्थ होता है, अखण्ड, अविनाशी जीवात्मशक्ति। शङ्कराचार्य के अनुसार 'अदिति' में भक्षणार्थक अद् धातु है—शब्दादीनाम् अदनाद् अदितिः। शब्दादि विषयों का अदन (भक्षण, भोग) करने के कारण जीवात्मा अदिति है। 'अद्' से कर्मफलभोग अर्थ भी ग्राह्य है।

किया करते हैं। वे ध्यानीजन परमात्माग्नि में अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले हविष्मान् होते हैं और परमात्माग्नि की स्तुति करते हैं। देख, यह है वह[1] (८)। जिससे सूर्य उदित होता है और जिसमें अस्त होता है, अर्थात् जो सूर्य के उदय और अस्त को करनेवाला है, उसी में बाह्य अग्नि, वायु, नक्षत्र आदि तथा देहस्थ वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब देव अर्पित हैं, उसी के अधीन हैं, उससे बड़ा कोई नहीं है। देख, यह है वह[2] (९)। जो परमात्मा यहाँ पृथिवी, वन, पर्वत, नदी आदि निकटवर्ती पदार्थों में है, वही वहाँ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि दूरस्थ पदार्थों में है। यहाँ और वहाँ के परमात्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जो इस परमात्मा में नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहता है, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है[3] (१०)। यह परमात्मा मन द्वारा मनन करने से ही प्राप्त करने योग्य है। इस परमात्मा में नानात्व बिल्कुल नहीं है, अर्थात् परमात्मा अनेक नहीं हैं। जो मनुष्य परमात्मा में नानात्व देखता है, अर्थात् परमात्मा अनेक समझता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता रहता है[4] (११)। अंगुष्ठमात्र पुरुष परमात्मा जीवात्मा के मध्य में स्थित है। वह भूत-भविष्य सबका अधीश्वर है। जो उसे जान लेता है, वह फिर उससे मुँह नहीं फेरता। देख, यह है वह[5] (१२)। वह अंगुष्ठमात्र पुरुष

---

१. **अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।**
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत्॥ ८॥
तुलनीय, श्वेताश्वतर उप० १। १४ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

२. **यतश्चोदेति सूर्यो ऽस्तं यत्र च गच्छति।**
तं देवाः सर्वे ऽ र्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्॥ ९॥

३. **यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।**
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

४. **मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।**
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

५. **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।**
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद् वै तत्॥ १२॥
हृदय का परिमाण अङ्गुष्ठमात्र है और हृदय परमात्मा की उपलब्धि का स्थान है, अतः परमात्मा को यहाँ अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है—शङ्कर।
इस विषय में द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १। ३। २४,२५।

परमात्मा निर्धूम-ज्योति के समान ज्योतिष्मान् एवं निर्मल है। वह भूत-भविष्य सबका अधीश्वर है। वही आज है, वही कल होगा, अर्थात् आज और कल के परमात्मा भिन्न नहीं हैं। देख, यह है वह[1] (१३)।

जैसे ऊँची-नीची चोटी पर बरसा हुआ वर्षाजल पर्वत-प्रदेशों में इधर-उधर दौड़ जाता है, वैसे ही जो ईश्वरीय धर्मों को परमात्मा से पृथक् देखता है, वह उन धर्मों की ओर ही दौड़ता फिरता है[2] (१४), परन्तु जो विज्ञानवान् मुनि है, वह अपने आत्मा को परमात्मा में ही आसक्त करता है और उस शुद्ध परमात्मा में आसक्त हुआ उसका शुद्ध आत्मा परमात्मा जैसा ही पवित्र भासित होने लगता है, जैसे शुद्ध पात्र में डाला हुआ शुद्ध जल तद्रूप दिखायी देता है[3] (१५)।

पाँचवीं वल्ली

थोड़ी देर नचिकेता को विश्राम देकर पुनः यम कहने लगा— पहले वह जीवात्मा की महिमा का वर्णन करके फिर सनातन ब्रह्म का वर्णन करता है।

जीवात्म-वर्णन

यह शरीर अवक्र चेतनावाले, अजन्मा जीवात्मा की ग्यारह द्वारोंवाली एक पुरी है। दो कर्णछिद्र, दो नासिकाछिद्र, दो चक्षुछिद्र, एक मुख, दो अधोद्वार, एक नाभिद्वार और ग्यारहवाँ शिरोवर्ती ब्रह्मरन्ध्र ये इस शरीर-पुरी के ग्यारह द्वार हैं। जो इस पर अधिकार करता है, राजा की तरह इसे अपने वश में रखता है, वह शोक से दूर हो जाता है और इस पुरी से छूटने के बाद मुक्ति पा लेता है। देख, यह है वह[4] (१)। यह जीवात्मा सिर-रूप पवित्र

---

१. **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।**
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद् वै तत्॥ १३॥

२. **यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।**
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति॥ १४॥

३. **यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।**
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

४. **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद् वै तत्॥ १॥

द्युलोक में बैठनेवाला हंस (सूर्य) है, वक्ष-रूप अन्तरिक्ष में रहनेवाला वसु (वायुदेव) है, हृदयवेदि में बैठनेवाला होता (अग्नि) है, देह-रूप घर में बैठनेवाला अतिथि है। यह मनुष्यों के अन्दर बैठनेवाला है, श्रेष्ठों के अन्दर बैठनेवाला है, सत्य में स्थित होनेवाला है, आकाश में स्थित होनेवाला है, जलों में जन्म लेनेवाला है, पृथ्वी पर जन्म लेनेवाला है, सत्य लोकों में जन्म लेनेवाला है, पर्वत पर जन्म लेनेवाला है, सत्यस्वरूप है, महान् है[१] (२)। यह जीवात्मा ही प्राण को ऊपर ले जाता है, अपान को नीचे ले जाता है। शरीर के मध्य में स्थित इस वामन की आज्ञा का चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब देव पालन करते हैं[२] (३)। जब यह शरीरस्थ देही आत्मा देह से छूटकर निकल जाता है, तब यहाँ क्या बचता है? कुछ नहीं। देख, यह है वह[३] (४)। न प्राण से, न ही अपान से कोई मनुष्य जीवित रहता है। जिससे जीवित रहता है, वह आत्मा है। प्राण-अपान उसी के अधीन हैं[४] (५)।

मरणोत्तर आत्मा की गति

हे नचिकेता, अब मैं तुझे यह बताता हूँ कि मनुष्य के मर जाने पर आत्मा की क्या गति होती है। कुछ आत्माएँ पुनः शरीर धारण करने के लिए विभिन्न योनियों में चली जाती हैं और कुछ स्थावरों (वृक्षों) में चली जाती हैं, जैसा जिसने कर्म किया होता है या शास्त्र सुना होता है, वैसी उसकी गति होती है[५] (७)।

सनातन ब्रह्म का वर्णन

हे नचिकेता, अब मैं तुझे गुह्य सनातन ब्रह्म का उपदेश

---

१. **हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥**

२. **ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥ ३॥**

३. **अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद् वै तत्॥ ४॥**

४. **न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥**

५. **योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनु संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥**

करूँगा। जो यह परमपुरुष जब सब सो जाते हैं, तब भी एक-एक काम्य वस्तु का निर्माण करता हुआ जागता रहता है, वही 'शुक्र' है, वही 'ब्रह्म' है, वही 'अमृत' कहा जाता है। समस्त लोक उसी के आश्रित हैं, उससे बढ़कर कोई नहीं है। देख, यह है वह[१] (८)। जैसे एक ही अग्नि सारे भुवन के अन्दर प्रविष्ट है और पदार्थ-पदार्थ में उसी के प्रतिरूप हो गया है, वैसे ही एक परमेश्वर सब भूतों के अन्दर विद्यमान है और प्रत्येक में उसी के प्रतिरूप हो गया है, पर तो भी उससे भिन्न है[२] (९)। जैसे एक ही वायु (प्राण) सारे भुवन में प्रविष्ट है और प्रति पदार्थ में उसी के प्रतिरूप हो गया है, वैसे ही एक परमेश्वर सब भूतों के अन्दर विद्यमान है और प्रत्येक में उसी के प्रतिरूप हो गया है, पर तो भी उससे भिन्न है[३] (१०)। सूर्य जैसे सब लोकों की आँख है, किन्तु वह आँख-सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही एक ईश्वर सब भूतों का अन्तरात्मा है, किन्तु वह लोक-सम्बन्धी बाह्य दुःखों से लिप्त नहीं होता[४] (११)। एक परमेश्वर सबको वश में किये हुए है, सब भूतों का अन्तरात्मा है, अन्तर्यामी है। वही एकरूप प्रकृति को अनेकरूप करता है। उस आत्मस्थ का जो धीरजन दर्शन करते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं[५] (१२)। वह नित्यों में सर्वोपरि नित्य है, चेतनों में सर्वोपरि चेतन है। वह अकेला बहुतों की कामनाओं को पूर्ण करता है। उस आत्मस्थ का जो धीरजन दर्शन करते हैं, उन्हीं को

---

१. य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्॥ ८॥

२. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥

३. वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

४. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

५. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

६. नित्यो नित्यानां चेतनश्चतेनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥

शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, अन्यों को नहीं[१] (१३)।

यम के मुख से ब्रह्म के इस स्वरूप को सुनकर नचिकेता ने कहा—उस अनिर्देश्य परम सुखस्वरूप परमेश्वर को आप जैसे लोग तो 'यह है वह' इस प्रकार प्रत्यक्षवत् जानते हैं, किन्तु मैं उसे कैसे जानूँ? क्या वह किसी ज्योति से भासित या विभासित हो सकता है[१] (१४)।

नचिकेता का यह प्रश्न सुनकर यम बोला—हे नचिकेता, न उस परब्रह्म को सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चाँद-तारे, न बिजलियाँ प्रकाशित कर सकती हैं। फिर अग्नि की तो बात ही क्या है? पहले वह चमकता है, उसके पीछे अन्य सब चमकते हैं। उसी की चमक से यह सब-कुछ विभासित हो रहा है[२] (१५), अतः परब्रह्म को तू किसी सांसारिक ज्योति से नहीं देख सकता।

छठी वल्ली

किसी सांसारिक ज्योति से परब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते, तो फिर उसका दर्शन कैसे किया जाए? नचिकेता की इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए छठी वल्ली की अवतारणा की गयी है। इसमें बताया गया है कि योगविधि के द्वारा उसका साक्षात्कार हो सकता है। यम कहता है—

सनातन अश्वत्थ और उसका मूल

यह संसार एक सनातन 'अश्वत्थ' है, पीपल का पेड़ है, जिसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे हैं। मूल है परब्रह्म, जो जगत् का निमित्त कारण है। उसका तात्त्विक रूप जगदतीत होने के कारण उसे जगत् से ऊपर कहा गया है। उस 'अश्वत्थ' की शाखा-प्रशाखाएँ हैं सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि, जो उस ब्रह्म से ही नियन्त्रित होती हुई नीचे इधर-उधर फैली हुई हैं। वही 'शुक्र', अर्थात् तेजस्वी एवं पवित्र कहलाता है, उसी को 'ब्रह्म' भी कहते हैं। उसी का नाम 'अमृत' भी है, क्योंकि वह कभी मरता नहीं। उसी के आश्रय से सब लोक स्थित हैं। उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, अर्थात् महिमा में उससे बड़ा नहीं हो सकता।

---

१. **तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।**
कथं नु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥ १४॥

२. **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।**
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

हे नचिकेता, देख, यह है वह[१] (१)।

ब्रह्मज्ञान का महत्त्व

यह जो प्रकृति में से निकला हुआ सम्पूर्ण जगत् है, वह प्राणमय परब्रह्म के आश्रय में रहता हुआ ही क्रिया कर रहा है। वह जगत् की प्रत्येक वस्तु के लिए महान् भय है, भय का कारण है। वह ऊपर उठे हुए वज्र के समान सबका शासक है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं[२] (२)। उसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, उसी के भय से सूर्य तपता है। उसी के भय से इन्द्र (विद्युत्) और वायु दौड़ रहे हैं। उसी के भय से पाँचवाँ मृत्यु दौड़ रहा है[३] (३)। इसी जन्म में शरीर के छूटने से पहले यदि साधक उसे जानने में समर्थ नहीं होता [अशकत्=न शकत्] तब वह सृष्टि के लोकों में शरीर धारण करता है[४] (४)।

ब्रह्म कहाँ कैसा दीखता है?

जैसे कोई वस्तु दर्पण में दिखायी देती है, वैसे वह आत्मा में दीखता है। जैसे कोई वस्तु स्वप्न में दीखती है, वैसे वह मनोलोक (पितृलोक) में दीखता है। जैसे कोई वस्तु पानी में दीखती है, वैसे वह बुद्धिलोक (गन्धर्वलोक) में दीखता है, किन्तु ब्रह्मलोक में वह छाया और धूप के सदृश स्पष्ट भासित होता है[५] (५)।

---

१. **ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत्॥ १॥**

२. **यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २॥**

३. **भयादस्याग्निस्तपति मयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ ३॥**

४. **इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥ ४॥**

५. **यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥ ५॥**
दर्पण मलिन होने पर वस्तु मलिन दीखती है, ऐसे ही आत्मा मलिन होने पर उसमें विद्यमान ब्रह्म भी मलिन प्रतीत होगा। पितृलोक=मनोलोक। स्वप्न की वस्तु अयथार्थ भी हो सकती है, ऐसे ही मन से चिन्तित ब्रह्म का यथार्थ होना आवश्यक नहीं। गन्धर्वलोक=बुद्धिलोक। बुद्धि गलत रास्ते पर भी जा सकती है, अतः बुद्धि या तर्क से निर्णीत ब्रह्म का स्वरूप गलत भी हो सकता है। ब्रह्मलोक=आनन्दमयकोष। आनन्दमय-कोष में ब्रह्म के छाया और धूप के सदृश स्पष्ट दर्शन होते हैं।

आत्मा इन्द्रियों से पृथक् है

जो धीर पुरुष इन्द्रियों के पृथग्भाव को जानता है, अर्थात् यह जानता है कि इन्द्रियाँ आत्मा से भिन्न हैं और जो उत्पन्न होनेवाली इन इन्द्रियों के उदय और अस्त (सोने-जागने या उत्पत्ति-विनाश) को आत्मा से पृथक् जानता है, अर्थात् यह जानता है कि उदय-अस्त होना इन्द्रियों का धर्म है, आत्मा का नहीं, वह शोक में नहीं पड़ता[१] (६)।

ब्रह्मज्ञान से अमृतत्व

इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है। बुद्धि से परे महान् आत्मा है। महान् आत्मा से परे अव्यक्त आत्मा है[२] (७)। अव्यक्त आत्मा से परे पुरुष (परमात्मा) है, जो व्यापक तथा लिंगरहित (पहचान की भौतिक निशानियों से रहित) है। उसे जानकर जीव मुक्त हो जाता है तथा अमरत्व पा लेता है[३] (८)। पुरुष परमात्मा का कोई भौतिकरूप सामने नहीं आता, न ही कोई इसे आँख से देख पाता है। यह हृदय, बुद्धि और मन से समीक्षित होता है। जो इसे जान लेते हैं, इसकी अनुभूति कर लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं[४] (९)।

परमा गति और योग

जब मनसहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी विविध चेष्टाएँ नहीं करती, उस अवस्था को 'परमा गति' कहते हैं[५] (१०)। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योगीजन योग मानते हैं। उस स्थिति में योगी प्रमादरहित हो जाता है। प्रभव और अप्यय, अर्थात् उत्पत्ति और विनाश या प्राप्ति और परिहार

---

१. इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥ ६॥

२. इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतो ऽ व्यक्तमुत्तमम्॥ ७॥

३. अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको ऽ लिङ्ग एव च।
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

४. न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदैनम्।
हृदा मनीषा मनसा ऽ भिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

५. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ १०॥

ही योग कहलाता है। योग में इन्द्रियधारणा की उत्पत्ति या प्राप्ति होती है और प्रमाद का विनाश या परिहार होता है[१] (११)।

ब्रह्म की उपलब्धि और अमृतत्व

परब्रह्म परमेश्वर न वाणी से प्राप्त किया जा सकता है, न मन से, न आँख से। जिस मनुष्य को साक्षात् इस रूप में अनुभूति हो जाती है कि 'यह है वह', उसी को वह उपलब्ध होता है। उससे भिन्न को नहीं[२] (१२)। परब्रह्म की उपलब्धि इसी रूप में की जानी चाहिए कि 'यह है वह' और ज्ञाता-ज्ञेय (आत्मा-परमात्मा) का तत्त्वज्ञान हो जाना चाहिए। जब 'यह है वह' इस रूप में उसकी उपलब्धि हो जाती है, तभी उसका तात्त्विक रूप प्रकट हो पाता है[३] (१३)। मनुष्य के हृदय में जो भी कामनाएँ हैं, वे सब जब छूट जाती हैं, तब मनुष्य अमर होता है और तभी ब्रह्म को प्राप्त करता है[४] (१४)। जब इस जीवन में हृदय की सब ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर पद पाता है। यही शास्त्रों का उपदेश है[५] (१५)। एक सौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक मूर्धा की ओर निकल गयी है। उससे ऊर्ध्वारोहण करता हुआ आत्मा अमृतत्व पा लेता है। चारों ओर फैली हुई अन्य नाड़ियाँ उत्क्रमणमात्र करानेवाली होती हैं, अर्थात् उनमें से किसी के द्वारा जिसका प्राण शरीर से बाहर निकलता है, वह अमृतत्व न पाकर पुनर्जन्म के चक्र में पड़ा रहता है[६] (१६)।

---

१. **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥**

२. **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतो ऽ न्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥ १२॥**

३. **अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३॥**

४. **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्यो ऽ मृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ १४॥**

५. **यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्यो ऽ मृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥ १५॥**

६. **शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥**

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष (अर्थात् अणु जीवात्मा) सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है। मरते समय उसे धैर्यपूर्वक शरीर से बाहर निकाले, जैसे मूँज के अन्दर से कोई सींक को बाहर निकालता है। उसे शुद्ध और अमर समझे, उसे शुद्ध और अमर समझे[१] (१७)।

उपसंहार

यह ज्ञान यम ने नचिकेता को दिया था। यम से उपदिष्ट इस विद्या को और सम्पूर्ण योगविधि को सीखकर नचिकेता रजोरहित तथा मृत्युञ्जय होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार अन्य भी जो कोई अध्यात्म रहस्य का ज्ञाता होता है, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है[२] (१८)।

नाचिकेत उपाख्यान का रहस्य

नचिकेता के पिता ने सर्वस्व दान कर दिया। दान की वस्तुओं में बूढ़ी गौओं को देखकर बालक के अन्तराल में प्रश्न उठा—ऐसे दान से क्या लाभ? भोलेपन में वह पिता से प्रश्न कर बैठा—पिताजी, मैं भी तो आपकी सम्पत्ति हूँ, मेरा दान किसे करोगे? बालपन की भोली बात सुनकर पिता चुप रहा, किन्तु बालक के मुख से दुबारा-तिबारा फिर वही प्रश्न सुनकर झुँझला उठा—जा, तुझे मैं मृत्यु को देता हूँ। आज्ञापालक बालक मृत्यु के पास जा पहुँचा। तीन रात्रि मृत्यु के द्वार पर भूखा बैठा रहा। तब मृत्यु ने कहा—तू मेरा अतिथि है, तीन रात्रि भूखा रहा है, उसके बदले तीन वर माँग ले।

नचिकेता ने कहा—गुरुदेव, यदि आप प्रसन्न हैं, तो पहला वर मैं यह माँगता हूँ कि मेरे पिता, जो मुझसे रुष्ट हो गये थे, पुनः मुझसे प्रसन्न हो जाएँ और जब मैं आपके पास से लौटकर

---

१. **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।**
तं स्वाच्छरीरात् प्रबृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं, तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥
पहले वल्ली ४, श्लोक १२,१३ में परमात्मा को भी अङ्गुष्ठमात्र पुरुष कहा जा चुका है।

२. **मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नाम्।**
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥

जाऊँ तब प्रसन्न होकर मुझसे वार्त्तालाप करें। मृत्यु ने कहा—तथास्तु, दूसरा वर माँगो।

नचिकेता बोला—दूसरा वर मैं यह माँगता हूँ कि मुझे स्वर्ग प्राप्त करानेवाली अग्निविद्या (याज्ञिक कर्मकाण्ड) का उपदेश दीजिए। दूसरा वर भी मिल गया।

अब तीसरे वर की बारी आयी। नचिकेता ने कहा—मृत मनुष्य के विषय में, लोगों में बहुत सन्देह फैला हुआ है। कोई कहते हैं कि एक अमर वस्तु है, जो मनुष्य के, मरने के पश्चात् भी रहती है, कोई कहते हैं मरने के पश्चात् कुछ नहीं रहता। इसमें सत्य क्या है? यह रहस्य मुझे समझाइये, यह मेरा तीसरा वर है। यह जटिल प्रश्न सुनकर मृत्यु कहने लगा—हे नचिकेता, यह वर मुझसे न माँगो, इसके बदले अन्य जो कुछ चाहो सो माँग लो। किन्तु नचिकेता न माना। उसने कहा—जब आप वर माँगने को कहते हैं, तब मुझे तो यही वर चाहिए। तब मृत्यु ने उसकी अध्यात्म रुचि की प्रशंसा की और मरणोत्तर मनुष्य की क्या गति होती है, इसका सब रहस्य उसे हृदयङ्गम करा दिया। उसने बताया कि मनुष्य के मरने के बाद भी उसका आत्मा अवशिष्ट रहता है, जो कर्मानुसार फल पाता है, और कुछ लोग मुक्ति भी पा लेते हैं। मृत्यु ने उसे योगविद्या सिखायी, आत्मा-परमात्मा के दर्शन कराये और मुक्ति का अधिकारी बना दिया। यह कठोपनिषद् के नाचिकेत उपाख्यान का सार-संक्षेप है।

नचिकेता और मृत्यु

नचिकेता और मृत्यु ये ही इस आख्यान के दो प्रमुख पात्र हैं। नचिकेता बालक है, वाजश्रवस का पुत्र है। 'नचिकेता' नाम यहाँ अन्वर्थक है। मूल शब्द 'नचिकेतस्' है, जिसका प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'नचिकेताः' ऐसा विसर्गान्त रूप बनता है। 'न' निषेधार्थक है, 'चिकेतस्' में ज्ञानार्थक कित धातु है। जो ज्ञानी नहीं है, किन्तु अबोध है, वह 'नचिकेताः' है। परन्तु यह 'मृत्यु' कौन है? क्या नचिकेता सचमुच मृत्यु (मौत) के पास गया था? किन्तु यह कैसे सम्भव है कि कोई बालक मृत्यु (मौत) के पास जाए, उससे वार्त्तालाप करे और वर लेकर, यज्ञ-विद्या पढ़कर, योग सीखकर वापिस आ जाए? अतः यहाँ मृत्यु का अर्थ मौत नहीं हो सकता, कुछ और ही होना चाहिए। मृत्यु

का अर्थ है आचार्य। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में स्पष्ट ही कहा है—'**आचार्यो मृत्युः**' ११।५।१४, अर्थात् आचार्य मृत्यु है। इस विषय में अथर्व० ६।१३३।३ भी द्रष्टव्य है—'**मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि**', अर्थात् मैं मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ। आचार्य का नाम मृत्यु इस कारण है कि वह अज्ञानी बालक को मारकर ज्ञानी के रूप में नया जन्म देता है, ठीक वैसे ही जैसे मृत्यु मनुष्य को मारकर नया जन्म दिया करता है। आचार्य के इस मृत्यु रूप को उपनिषत्कार ने ऐसे सुन्दर रूप में चित्रित किया है कि वह साक्षात् मृत्यु ही प्रतीत हो रहा है। इस उपाख्यान में मृत्यु का दूसरा नाम 'यम' आया है। आचार्य 'यम' भी है, क्योंकि वह ब्रह्मचारी को नियन्त्रण में रखता है, उससे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करवाता है। 'यम' शब्द नियन्त्रण अर्थवाली 'यमु' धातु से बना है।

इस प्रकार कथानक के आलङ्कारिक रूप को हटा दें, तो सीधी भाषा में हम यह कह सकते हैं कि नचिकेता के पिता ने अपनी सब सम्पत्ति दान कर दी और अपने पुत्र नचिकेता को विद्याध्ययन करने के लिए गुरुकुल में मृत्युरूप आचार्य के पास भेज दिया।

तीन रात्रि भूखा रहा

आचार्य के पास पहुँचकर नचिकेता तीन रात्रि भूखा रहा। यह ठीक ही है, क्योंकि उपनयन से पूर्व बालक को तीन रात्रि का उपवास करना होता है। तीन दिन न कहकर तीन रात्रि इस कारण कहा कि भूख लगने पर बालक दिन में लघ्वाहार के रूप में दूध, यवागू (जौ का दलिया) अथवा आमिक्षा (श्रीखण्ड) ले सकता है।

तीन रात्रि भूखा रहने का एक और बी रहस्यार्थ है। ब्रह्मचर्यसूक्त में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः॥

—अथर्व० ११।५।३

"आचार्य जब ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करता है, तब वह मानो उसे अपने गर्भ में रखता है। तीन रात्रि वह उसे अपने उदर में धारण करता है। तीन रात्रियों के पश्चात् जब उसका जन्म होता है, अर्थात् जब वह स्नातक बनता है, तब देवजन (विद्वज्जन)

उसके दर्शनार्थ आते हैं।''

ब्रह्मचारी की ये तीन रात्रियाँ कौन-सी हैं, जिनमें वह आचार्य के गर्भ में या उदर में निवास करता है? ब्रह्मचारी और आचार्य का अध्ययन-काल में निकट सान्निध्य दिखाने के लिए यह गर्भ या उदर की कल्पना की गयी है। गर्भ या उदर में रहने का आशय है आचार्य के निकट सान्निध्य में उसके अधीन गुरुकुल में रहना। अतः गुरुकुल-निवासकाल की तीन श्रेणियाँ ही, तीन रात्रियाँ हैं। प्रथम श्रेणी—जिसमें वह ज्ञानकाण्ड-रूप प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करता है, पहली रात्रि है। द्वितीय श्रेणी—जिसमें वह कर्मकाण्ड-रूप माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करता है, दूसरी रात्रि है। तृतीय श्रेणी—जिसमें वह अध्यात्मकाण्ड-रूप उच्च शिक्षा पाता है, तीसरी रात्रि है। तीन दिन न कहकर तीन रात्रि कहने में यह विशेषता है कि ब्रह्मचारी के अन्दर ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड सम्बन्धी त्रिविध अज्ञान होता है और अज्ञान को रात्रि या अन्धकार शब्द से ही प्रकट किया जाता है। जब प्रथम प्रकार का अज्ञान समाप्त होता है, तब मानो पहली रात्रि व्यतीत हो जाती है। तीनों प्रकार के अज्ञान से पार हो जाने पर तीनों रात्रियाँ व्यतीत हो जाती हैं और ब्रह्मचारी के सम्मुख ज्ञान का सूर्य उदित हो जाता है।

नचिकेता तीन रात्रि मृत्यु के घर पर भूखा बैठा रहा, इसका अभिप्राय यह है कि जब तक उसके तीनों प्रकार के अज्ञान समाप्त नहीं हो गये, तब तक उसने आचार्याधीन गुरुकुल में भोग-विलास से दूर रहते हुए तपस्यापूर्वक निवास किया। ब्रह्मचर्याश्रम भोगों का आश्रम नहीं है, वह तो भूखा रहने का, कठोर तपस्या का आश्रम है।

तीन वर

एक-एक रात्रि भूखा रहने के बदले नचिकेता को एक-एक वर मिलता है। ठीक ही है, वर्त्तमान शिक्षणालयों में भी तो ऐसा ही होता है। जो प्रथम कुछ वर्षों तक तपस्यापूर्वक विद्याध्ययन करता है, उसे प्राथमिक शिक्षा समाप्त करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है। यही आजकल का प्रथम वर है। इसी प्रकार माध्यमिक शिक्षा पूर्ण कर लेने पर माध्यमिक शिक्षा-समाप्ति का प्रमाणपत्र-रूप द्वितीय वर और उच्च शिक्षा समाप्त कर लेने पर उच्च शिक्षा-समाप्ति का प्रमाणपत्र-रूप तृतीय वर प्राप्त हो जाता है।

नचिकेता ने प्रथम वर माँगा पिता की प्रसन्नता का। उपनिषत्कार ने सर्वप्रथम यह वर मँगवाकर बालमनोविज्ञान का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक छोटी आयु के बालक से ऐसी याचना की ही आशा की जा सकती है। वह माता-पिता या गुरु का प्रेम, सुन्दर पाठ्य पुस्तकें आदि, इसी प्रकार की कोई वस्तु माँगेगा। नचिकेता ने भी वही माँगा। उसे स्मरण हो आया गुरुकुल भेजते समय का पिता का रोष और उसने यह वर माँग लिया कि पिताजी मुझ पर प्रसन्न हो जाएँ। परन्तु प्रथम वर को पिता की प्रसन्नता तक ही सीमित नहीं समझ लेना चाहिए। यह प्रतीक है उन सब बातों का, जिनकी पूर्ति शिक्षा के प्रथम काल में होनी आवश्यक होती है। इस प्रकार यह पूर्वोक्त तीन श्रेणियों में से ज्ञानकाण्ड का सूचक हो सकता है। अतः यह समझना चाहिए कि प्रथम वर से नचिकेता ने ज्ञानकाण्ड सीख लिया। नचिकेता की पहली रात्रि बीत गयी, उसका वर उसे मिल गया।

ज्ञानकाण्ड की प्राप्ति के अनन्तर कर्मकाण्ड की शिक्षा की आवश्यकता होती है। दूसरे वर से नचिकेता को विस्तृत अग्निविद्या या कर्मकाण्ड का उपदेश भी मिल गया। अब तो नचिकेता सब वेद-वेदाङ्गों का पण्डित हो गया, अपरा विद्या की विद्वत्ता उसे प्राप्त हो गयी। अब कमी रह गयी थी परा विद्या की या अध्यात्मकाण्ड की। नचिकेता की दो रात्रियाँ समाप्त हो चुकी थी, उनके वर उसे मिल चुके थे। किन्तु अभी तो एक रात्रि और आचार्य के उदर में रहने का अवसर उसे मिला हुआ था। उसे वह हाथ से क्यों जाने देता? तीसरे वर में उसने अध्यात्मज्ञान माँग लिया।

यह वर मत माँग

नचिकेता नें कहा—भगवन्, मरने के बाद मनुष्य का कुछ अवशिष्ट रहता है या नहीं? मेरी इस जिज्ञासा का आप समाधान कीजिए; यही मैं तीसरे वर से माँगता हूँ। देखने में यह प्रश्न बिल्कुल साधारण-सा है, किन्तु आचार्य ने इसे साधारण नहीं समझा। वे समझ गये कि इस प्रश्न में नचिकेता की समस्त अध्यात्म जिज्ञासा निहित है। मरने के बाद भी आत्मा रहता है, इतना कह देने मात्र से नचिकेता की सन्तुष्टि नहीं होगी। वह तो प्रश्न पर प्रश्न उठाते हुए, कदम पर कदम रखते हुए ईश्वरानुभव

तक पहुँचना चाहेगा, सम्पूर्ण योगविधि सीखना चाहेगा। पर यह मार्ग तो बड़ा जटिल है। जितना यह आकर्षक है, उतना ही कठिन भी है। अधिकांश मनुष्य इस पर चलना चाहते हुए भी नहीं चल पाते। प्रारम्भ करके बीच में ही रुक जाते हैं और फिर दूसरे मार्ग के राही हो जाते हैं, अतः आचार्य ने शिष्य की परीक्षा करनी चाही। उसके सामने अनेक सांसारिक प्रलोभन रक्खे। अन्य जो चाहे सो माँग ले, किन्तु यह वर मत माँग। प्रश्न हो सकता है कि क्या आचार्य शतायु पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सुवर्ण, भूमि का बहुत बड़ा भाग, मनोवांछित आयु, सेवार्थ रथ और गाजे-बाजों सहित अनेक रमणियाँ नचिकेता को दे सकते थे, जो इनका प्रलोभन उसे दे रहे थे। इसका उत्तर है कि यह तो कथानक की अतिशयोक्ति है। वे उसे गृहस्थाश्रम में तो भेज ही सकते थे, जहाँ इस प्रकार का जीवन सुलभ हो सकता है।

शिष्य परीक्षा में खरा उतरा, वह प्रलोभनों में नहीं पड़ा। उसकी अध्यात्म जिज्ञासा सच्ची निकली। शिष्य की सच्ची जिज्ञासा देखकर आचार्य से अधिक और किसे प्रसन्नता होती? आचार्य का रोम-रोम पुलकित हो उठा। उसने कहा—नचिकेता, तू धन्य है। मैं चाहता हूँ, मुझे सदा तुझ-जैसा ही शिष्य मिले। नचिकेता को तीसरा वर भी मिल गया। उसने न केवल यह जान लिया कि आत्मा अमर है, किन्तु योग सीखकर आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार करके वह मुक्तिलोक में भी पहुँच गया। तीन रात्रि भूखा रहने की उसकी साधना फलीभूत हुई।

स्वर्गलोक और मुक्तिलोक

दूसरे वर की भूमिका बाँधते हुए नचिकेता ने स्वर्गलोक का यह चित्र खींचा है कि वहाँ भय नहीं है, न वहाँ मृत्यु होती है, न बुढ़ापे का डर है, न भूख-प्यास सताती है; शोक भी नहीं होता; वहाँ आनन्द ही आनन्द रहता है। नचिकेता ने यम से कहा है कि यह स्वर्गलोक अग्निविद्या या कर्मकाण्ड से प्राप्त होता है; अतः दूसरे वर से आप मुझे स्वर्ग प्राप्त करानेवाली अग्नि का उपदेश कीजिए। तीसरे वर के प्रसङ्ग में अध्यात्मज्ञान एवं योगविधि द्वारा मुक्तिलोक प्राप्त करने की बात कही गयी है। प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्रकार मुक्तिलोक का जैसा वर्णन करते हैं, वैसा ही वर्णन यहाँ स्वर्गलोक का भी किया गया है, तो फिर स्वर्गलोक

और मुक्तिलोक में क्या अन्तर है? यहाँ कठोपनिषद् की ही पृष्ठभूमि में इसका समाधान हम दे रहे हैं।

स्वर्गलोक कर्मकाण्ड से प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड में सार्वजनिक हित सन्निहित रहता है, जिसमें अपना हित भी सम्मिलित होता है। यज्ञ-यागों की रोगनाशक सुगन्ध से महामारियाँ मिटती हैं। मन्त्र-पाठ, विधि-विधान, सामगान आदि से सुख-शान्ति, जनकल्याण और आत्म-कल्याण प्राप्त होते हैं। इससे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत अध्यात्ममार्ग पर चलने से, योग द्वारा आत्मा और परब्रह्म के दर्शन करने से मुक्तिलोक मिलता है। दोनों लोकों में ही आत्मा अशरीर रहता हुआ आनन्द-भोग करता है। अन्तर इतना ही है कि स्वर्गलोक कम अवधि का है और मुक्तिलोक सुदीर्घ अवधिवाला है। दोनों ही लोकों का कोई क्षेत्र निश्चित नहीं है। आत्मा कहीं भी विहार करता हुआ सुख-भोग कर सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. नचिकेता और उसके तीन वरों की कहानी लिखिए।

२. यम ने नचिकेता के तीसरे प्रश्न का क्या उत्तर दिया?

३. श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग को स्पष्ट कीजिए।

४. यम ने नचिकेता को जीवात्मा के विषय में क्या-क्या बतलाया?

५. यम ने नचिकेता को ओङ्कार एवं परब्रह्म के विषय में क्या उपदेश किया?

६. निम्न विषयों पर प्रकाश डालिए—(क) रथ का रूपक, (ख) परमात्मा की प्राप्ति का उपाय, (ग) मरणोत्तर आत्मा की गति, (घ) सनातन अश्वत्थ, (ङ) ब्रह्म कहाँ कैसा दीखता है? (च) परमा गति और योग, (छ) अङ्गुष्ठमात्र पुरुष।

७. नाचिकेत उपाख्यान का रहस्य समझाइए।

८. यम ने नचिकेता को तीसरे वर की अभीष्ट वस्तु माँगने से रोकना क्यों चाहा?

९. अग्निविद्या का उपनिषद् में क्या फल बताया गया है?

१०. नचिकेता ने यम से क्या-क्या सीखा?

ओ३म्

४. प्रश्नोपनिषद्

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः। व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ओ३म् स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे गुरुदेवो! हम शिष्यजन कानों से भद्र सुनें। हे पूज्य गुरुजनो! हम शिष्यगण आँखों से भद्र देखें। स्थिर अङ्गों से और शरीरों से प्रभु का स्तुति-पूजन करते हुए हम प्रभुदेव से स्थापित जो आयु है, उसे प्राप्त करें।

प्रवृद्ध यशवाला ऐश्वर्यशाली इन्द्र प्रभु हमें स्वस्ति प्रदान करे। विश्ववेत्ता पोषक पूषा प्रभु हमें स्वस्ति प्रदान करे। अक्षत नेमिवाला, अर्थात् अप्रतिहतगति ताक्ष्र्य प्रभु हमें स्वस्ति प्रदान करे। विशाल लोकों का अधिपति बृहस्पति प्रभु हमें स्वस्ति प्रदान करे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हमें शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शान्ति प्राप्त हो।

अब अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् प्रारम्भ होती है। इसमें छह शिष्यों ने महर्षि पिप्पलाद से अपने-अपने प्रश्न किये हैं और महर्षि ने उनका उत्तर दिया है। इसीलिए इसका नाम प्रश्नोपनिषद् या षट्प्रश्नोपनिषद् है। यह अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के ब्राह्मण की उपनिषद् है।

एक थे महर्षि पिप्पलाद। एक बार सुकेशा भारद्वाज, शैव्य सत्यकाम, सौर्यायणी गार्ग्य, कौसल्य आश्वलायन, भार्गव वैदर्भि और कबन्धी कात्यायन इन छह जिज्ञासुओं ने विचारा कि अपनी शङ्काओं के समाधान के लिए महर्षि के पास चलते हैं। उन जिज्ञासुओं को परब्रह्म की खोज थी। ब्रह्म में श्रद्धा रखनेवाले वे यह सोचकर कि भगवान् पिप्पलाद हमें सब-कुछ बता देंगे समित्पाणि होकर उनकी शरण में पहुँचे। उन्हें महर्षि ने कहा कि तुम एक वर्ष तक तपस्या, श्रद्धा और ब्रह्मचर्यपूर्वक यहाँ वास करो; उसके पश्चात् इच्छानुसार प्रश्न पूछना, यदि हम उन प्रश्नों

का उत्तर जानते होंगे, तो तुम्हें सब-कुछ बता देंगे। तपस्या, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य के साथ एक वर्ष तक निवास करने के लिए कहने में दो हेतु रहे होंगे। एक तो यह कि इस बात का पता लग जाएगा कि ये सच्चे जिज्ञासु हैं या नहीं; यदि सच्चे जिज्ञासु नहीं होंगे, तो बीच में ही तपस्या छोड़कर चले जायेंगे। प्राचीन ऋषि-महर्षि अनधिकारियों को ब्रह्मज्ञान नहीं देते थे। दूसरा हेतु महर्षि का यह रहा होगा कि एक वर्ष तक श्रद्धाभाव से तप और ब्रह्मचर्यपूर्वक मेरे समीप निवास करेंगे, तो कुछ ज्ञान इन्हें स्वतः प्राप्त हो जाएगा, एवं मेरे द्वारा दिये जानेवाले ज्ञान के अधिक पात्र हो सकेंगे।

१. कबन्धी कात्यायन का प्रश्न

एक वर्ष की तपस्या के अनन्तर कबन्धी कात्यायन ने महर्षि के समीप होकर पूछा—"भगवन्, चारों ओर जो प्रजाएँ दिखायी दे रही हैं, ये कहाँ से उत्पन्न हो गयी हैं ?[१]"

महर्षि ने उत्तर में कहा—"प्रजापति के अन्दर प्रजाओं को उत्पन्न करने की कामना हुई। उसने तप किया, तप करके रयि और प्राण नामक जोड़े को पैदा किया, यह सोचकर ये दोनों रयि और प्राण मेरे लिए बहुत प्रकार की प्रजाएँ उत्पन्न कर देंगे।[२]"

भगवन्, यह प्रजापति कौन है ? उसने तप कैसा किया ? यह रयि तथा प्राण का जोड़ा क्या है ? सब रहस्य समझाने की कृपा करें।

देखो, प्रिय कात्यायन, वैसे तो संसार में प्रजापति अनेक हैं, जैसाकि मैं तुम्हें आगे बताऊँगा, परन्तु यहाँ मेरा अभिप्राय परमेश्वर से है। वह सब प्रजाओं का स्वामी और पालनकर्त्ता होने से 'प्रजापति' कहलाता है। प्रजापति परमेश्वर में प्रजाओं को उत्पन्न करने की कामना हुई। यहाँ तुम्हें शङ्का होगी कि परमेश्वर तो निष्काम है, उसमें कामना ही क्यों हुई ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्यों के पूर्व जन्मों में किये गये उन कर्मों का, जिनका फल पूर्व जन्मों में नहीं मिला, फल देने के लिए ही वह सृष्टि रचता

---

१. अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ—"भगवन्, कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते" इति।

२. तस्मै स होवाच—"प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपो ऽ तप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यतः" इति।

है, अतः कर्मफलप्रदानार्थ ही प्रजाओं को पैदा करने की कामना हुई। जो उत्पन्न हों उन्हें 'प्रजा' कहते हैं—**प्रजायन्ते इति प्रजाः**, अतः प्रजा में जड़-चेतन दोनों आ जाते हैं। प्रजाओं को उत्पन्न करने के लिए उसने तप किया। उसका शरीर तो है नहीं, वह निराकार है, अतः यहाँ शारीरिक तप अभिप्रेत नहीं हो सकता। उसने वैचारिक तप किया[१], अर्थात् प्रजाओं को उत्पन्न करने की योजना बनायी कि मैदान, पर्वत, वृक्ष, नदियाँ, बादल, अग्नि, वायु, सूर्य, ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि किस प्रकार की सृष्टि बनानी है। तप करके, अर्थात् पूर्ण योजना बनाने के अनन्तर उसने अभीष्ट सृष्टि की उत्पत्ति के लिए रयि और प्राण का जोड़ा बनाया कि इस जोड़े से विविध प्रजाएँ उत्पन्न हो जाएँगी।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश यह महाभूतपञ्चक रयि है और प्राण से सूत्रात्मा प्राण अभिप्रेत है, जिसमें जड़-चेतन सब पिरोये हुए हैं, जैसे माला के सूत्र में मणियाँ पिरोयी रहती हैं। एवं इस रयि-प्राण के युगल से ही सब जड़-चेतन प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। चेतनों में प्राण जीवात्मा के साथ शरीर में आता है तथा जड़-पदार्थों में बिना जीवात्मा के। संसार में जो मूर्त और अमूर्त है, उसमें से मूर्त रयि है, अमूर्त प्राण।[२] जैसे माता के गर्भाशय में रज—वीर्य का पाञ्चभौतिक पिण्ड रयि है, उसमें जीवात्मा से सहचरित अमूर्त प्राण के आने से जीवित देह बन जाता है।

आग्नेय और सौम्य तत्त्वों से यह जगत् बना है। उसमें आग्नेय तत्त्व प्राण है, सौम्य तत्त्व रयि है। जैसे आदित्य प्राण है, चन्द्रमा रयि है।[३] ये दोनों ओषधि-वनस्पति आदि विविध प्रजा को उत्पन्न करते हैं। आदित्य से मिलनेवाले प्राण विभिन्न प्रकार के होते हैं। आदित्य उदित होता हुआ जब प्राची दिशा में प्रवेश करता है, तब अपनी रश्मियों में प्राच्य प्राणों को धारण करता है। जब आदित्य दक्षिण दिशा को प्रकाशित करता है, तब दाक्षिण्य प्राणों को; जब प्रतीची दिशा को प्रकाशित करता है, तब प्रतीच्य प्राणों को; जब निचली दिशा को प्रकाशित करता है, तब अधर प्राणों को; जब उपरली दिशा को प्रकाशित करता है, तब ऊर्ध्व प्राणों को; जब

---

१. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्डकोपनिषद् १।९

२. यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः। प्रश्न० १।५

३. आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। १।५

दिशाओं के अन्तराल को प्रकाशित करता है, तब मध्यम प्राणों को; जब इकट्ठे सबको प्रकाशित करता है, तब सब प्राणों को रश्मियों में धारण करता है।[१] सो यह विश्वरूप वैश्वानर सूर्य प्रतिदिन उदित हुआ करता है। ऋचा उसी के विषय में कह रही है—

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥
—१।८

"इस सूर्य को देखो, जो अँधेरे को हरनेवाला है, उत्पन्न पदार्थों को प्रकाशित करनेवाला है, परम प्राप्तव्य है, तपानेवाली अद्वितीय ज्योति है। यह सहस्रों रश्मियोंवाला, सैंकड़ों रूपों में विद्यमान, प्रजाओं का प्राण सूर्य उदित हो रहा है।"

भगवन्, आपने कहा था कि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य भी प्रजापति के व्रत का पालन कर रहे हैं, वह भी समझाने की कृपा करें।

देखो, कात्यायन! जैसे परमेश्वररूप प्रजापति मूर्त रयि एवं अमूर्त प्राण द्वारा जड़-चेतन जगत् को पैदा करता है, तथा चन्द्ररूप रयि एवं सूर्यरूप प्राण द्वारा ओषधि-वनस्पति आदि प्रजा को उत्पन्न करता है, वैसे ही जगत् में अन्य भी प्रजापति के व्रत का निर्वाह कर रहे हैं।

संवत्सर (वर्ष) प्रजापति है, उसके दो अयन हैं, दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन रयि है और उत्तरायण प्राण है।[२] ये दोनों मिलकर प्रजोत्पत्ति करते हैं। सदा इन दोनों में से कोई एक ही अयन रहे, तो उत्पत्ति एवं वृद्धि रुक जाए। इस दो अयनवाले तथा बारह मासोंवाले संवत्सर का वर्णन निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥
—१।११

---

१. अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद् दक्षिणां, यत् प्रतीचीं, यदधो, यदूर्ध्वं, यदन्तरा दिशो, यत् सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। १।६

२. संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। १।९

संवत्सर के दक्षिणायन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह पाँच ऋतुरूपी पाँच पैरोंवाला है। यद्यपि वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं, तथापि यहाँ हेमन्त और शिशिर को एक मानकर पाँच ऋतुएँ कही गयी हैं। यह सबका पिता, अर्थात् पालनकर्त्ता है। बारह मासरूपी बारह आकृतियोंवाला है। आकाश के आधे भाग में, अर्थात् अन्तरिक्ष में मेघस्थ जलवाला है। आगे उत्तरायण का वर्णन करते हैं कि कुछ लोग इस संवत्सर को इस रूप में कहते हैं कि यह विशेष प्रकाश देनेवाला है, सूर्य की सप्त रश्मिरूप सात चक्रों में तथा छह ऋतुरूप छह अरों में अर्पित है।

मास प्रजापति है। उसमें दो पक्ष होते हैं—कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। कृष्णपक्ष रयि है, शुक्लपक्ष प्राण है। ये दोनों मिलकर प्रजोत्पत्ति करते हैं। जो रयि के उपासक हैं, वे कृष्णपक्ष में इष्टि करते हैं। जो प्राण के उपासक हैं, वे शुक्लपक्ष में इष्टियाँ रचाते हैं।[1]

अहोरात्र भी प्रजापति है। रात्रि रयि है, दिन प्राण है। अतः जो दिन में रतिकर्म करते हैं, वे प्राण को बहा रहे होते हैं; किन्तु जो शास्त्रोक्त रात्रियों में रतिकर्म करते हैं, वे ब्रह्मचर्य को ही साधते हैं।[2]

अन्न भी प्रजापति है। उसके खाने से पुरुष में वीर्य और स्त्री में रज की उत्पत्ति होती है। वीर्य और रज के मिलने से प्रजाएं उत्पन्न होती हैं।[3]

इस प्रकार जो भी प्रजापति-व्रत का पालन करते हैं, वे मिथुन (जोड़े) को उत्पन्न करते हैं, जिससे प्रजाएँ होती हैं।[4]

हे कात्यायन! यह संक्षेप से मैंने तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर

---

१. मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणः। तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन्। १।१२

२. अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते। —१।१३

३. अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद् रेतः, तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। —१।१४

४. तद् ये ह वै तत् प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। —१।१५

दे दिया कि—"ये प्रजाएँ कहाँ से पैदा हो गयी हैं?"

रयि और प्राण के उपासकों की पृथक् गतियाँ

रयि और प्राण के प्रसङ्ग में एक शङ्का उठी है, गुरुवर! क्या रयि के उपासक तथा प्राण के उपासक दोनों भिन्न-भिन्न गतियों को पाते हैं?

हाँ, देखो, दो मार्ग हैं—एक पितृयाण और दूसरा देवयान। पितृयाण रयि से सम्बद्ध है और देवयान प्राण से। पितृयाण का अवलम्बन करनेवाले लोग इष्ट और पूर्त को कर्त्तव्य कर्म समझते हैं तथा प्रजाकाम होते हैं, अर्थात् गृहस्थाश्रम में रहकर सन्तान उत्पन्न करते हैं। इष्ट कहते हैं यज्ञ को और पूर्त से अभिप्रेत है बावड़ी, कुआँ, तालाब, यज्ञशाला, धर्मशाला आदि बनवाना, बाग-बगीचे लगवाना, अन्न-दान करना इत्यादि सार्वजनिक हित के कार्य। पहले हम चन्द्रमा और दक्षिणायन को रयि कह आये हैं। जो पितृयाण मार्ग के राही होते हैं, वे दक्षिणायन को अपना आदर्श बनाते हैं। जैसे दक्षिणायन में वर्षा द्वारा ओषधि-वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे वे भी वीर्यवृष्टि द्वारा सन्तानोत्पत्ति करते हैं और जैसे दक्षिणायन में वृष्टियज्ञ होता है एवं नदी, सरोवर आदि में पूर्णता आ जाती है, वैसे ही वे भी यज्ञ एवं पूर्ति के कार्य करते हैं। पितृयाण एवं दक्षिणायन के व्रत पर चलते हुए वे रयि की पराकाष्ठा जिसमें है, उस चान्द्रमसलोक को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् चन्द्रमा जैसे हो जाते हैं। जैसे चन्द्रमा अमावस को मृत होकर प्रति रात्रि पुनः नवीन-नवीन जन्म पाता रहता है, वैसे ही वे भी मरणोत्तर बारम्बार नवीन जन्म प्राप्त करते हैं। यह रयि को आदर्श मानकर जीवन व्यतीत करने का फल है।[१]

इसके विपरीत देवयान के राही तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं अध्यात्मविद्या से परमात्मा की खोज करते हैं। वे उत्तरायण को अपना आदर्श बनाते हैं। उत्तरायण में ग्रीष्म-ऋतु विशेष होती है। जैसे ग्रीष्म भूमि को तपाता है, वैसे ही वे अपने आत्मा को तपाते हैं। देवयान एवं उत्तरायण के व्रत पर चलते हुए वे प्राण की

---

१. तद् ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते, ते चान्द्रमसमेव लोकमभि जयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते।

२. तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।
—१।९

पराकाष्ठा जिसमें है, उस आदित्यलोक को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् आदित्यसम हो जाते हैं। जैसे आदित्य बारहों मासों में एक-समान पूर्ण मण्डलवाला रहता है, कलाओं की ह्रास-वृद्धि से नवीन जन्म धारण नहीं करता, वैसे ही देवयान के राही बारम्बार जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ते, वे मुक्त हो जाते हैं और परान्तकाल की लम्बी अवधि तक मुक्त रहते हैं, इस अवधि में उनकी मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। यह प्राण को आदर्श मानकर जीवन व्यतीत करने का फल है।[१]

ब्रह्मलोक दोनों ही कहलाते हैं, इहलोक भी और मुक्तिलोक भी। जिनमें रयि की अभीप्सा के साथ तप है, ब्रह्मचर्य है, सत्य प्रतिष्ठित है, वे पुनः पुनः जन्म लेकर इस सांसारिक ब्रह्मलोक को पाते रहते हैं और जिनमें प्राण की उपासना के साथ नाममात्र भी कुटिलता, अनृत और माया नहीं है, वे उस रजोरहित मुक्तिरूप ब्रह्मलोक को पाते हैं।

कबन्धी कात्यायन के प्रश्न का उत्तर मिल चुका था। वह आचार्य के समीप से उठकर शेष पाँचों साथियों की पङ्क्ति में जा बैठता है। अब दूसरे जिज्ञासु भार्गव वैदर्भि को अपनी जिज्ञासा निवृत्त करनी है। वह आगे बढ़ कात्यायन का आसन ग्रहण करता है।

२. भार्गव वैदर्भि के प्रश्न

भार्गव वैदर्भि ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—"भगवन्, यह बताने की कृपा करें कि—कितने और कौन-से देव हैं, जो उत्पन्न प्रजा को विशेषतया थामे रहते हैं, अर्थात् विधारक देव हैं? कौन-से देव हैं, जो प्रजा को प्रकाशित करते हैं? इनमें से कौन-सा देव सर्वश्रेष्ठ है?"[२]

महर्षि कहने लगे—वत्स, तुम्हारे तीन प्रश्न हैं, तीनों का क्रमशः उत्तर देता हूँ।

---

१. अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यायाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनम् एतदमृतम् अभयम् एतत् परायणम्। एतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। १.१०

२. अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ—"भगवन्, कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठः?" इति। २।१

पहला प्रश्न

तुम्हारा **पहला प्रश्न** प्रजा के विधारक देवों के सम्बन्ध में हैं। प्रजा को थामे रहनेवाले या प्रजा के विधारक देव हैं पञ्चतत्त्व, अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। इन्हीं पञ्चतत्त्वों से सब भौतिक पदार्थ बने हैं। इनके बिना कोई भी भौतिक पदार्थ थमा नहीं रह सकता। आकाश माला में सूत्र के समान पदार्थों में ओत-प्रोत है। पार्थिव तत्त्व पदार्थों का ढाँचा बनाता है। जल संश्लेषण का कार्य करते हैं। अग्नि-तत्त्व कठोरता, स्थिरता एवं परिपक्वता लाता है। वायु-तत्त्व लघुत्व उत्पन्न करता है। ये पाँचों तत्त्व जड़-चेतन सब प्रजाओं के विधारक देव हैं, क्योंकि इनके बिना कोई भी भौतिक ढाँचा खड़ा नहीं रह सकता।[१]

दूसरा प्रश्न

तुम्हारा **दूसरा प्रश्न** प्रकाशक देवों के विषय में है। प्रकाशक देव हैं वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र। वाणी प्रकाशक इस कारण है, क्योंकि वाणी से ही प्राणी मनोगत अभिप्राय को प्रकाशित करता है। आँख प्रकाशक इस कारण है, क्योंकि वह किसी पदार्थ को दिखाने-रूप प्रकाशन में माध्यम बनती है। श्रोत्र प्रकाशक देव इस कारण हैं, क्योंकि वे शब्द को सुनाने-रूप प्रकाशन में माध्यम बनते हैं। इन्हीं में रसना (जिह्वा), नासिका और त्वचा का भी अन्तर्भाव हो जाता है। रसना स्वादग्रहण-रूप प्रकाशन में, नासिका गन्धग्रहण-रूप प्रकाशन में और त्वचा स्पर्शज्ञान-रूप प्रकाशन में माध्यम बनती हैं। मन चिन्तन के द्वारा ज्ञानप्रकाश प्रदान करता है और अन्य सब ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञानग्राहकता में माध्यम बनता है। एवं मनसहित ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक देव हैं।[२]

तीसरा प्रश्न

वत्स भार्गव! तुम्हारा **तीसरा प्रश्न** यह है कि इन देवों में वरिष्ठ, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देव कौन-सा है। इसके लिए तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। एक बार प्रकाशक देव मनसहित ज्ञानेन्द्रियों को यह अभिमान हो गया कि हम ही इस शरीर को थामकर धारण किये हुए हैं, हम यदि प्रकाश या ज्ञान में साधन होना बन्द कर दें, तो यह शरीर दरिद्र हो जाए। इसलिए हम ही वरिष्ठ हैं। किन्तु

---

१. तस्मै स होवाच—आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी। २। २

२. वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। —२। २

उनका यह गर्व मिथ्या था। वह कैसे चूर हुआ, यह सुनो—मनसहित ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार में पड़ा देखकर सूत्रात्मा प्राण आकर उन्हें बोला—मोह में मत पड़ो, वस्तुतः वरिष्ठ तो मैं हूँ; मैं ही स्वयं को प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को धारण कर रहा हूँ, थामे हुए हूँ। परन्तु प्राण की इस बात पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने अश्रद्धा दिखायी। तब सूत्रात्मा प्राण अभिमान में आकर शरीर से बाहर निकलने लगा। उसके बाहर निकलने लगते ही अन्य सब वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र आदि भी बाहर की ओर खिंचने लगे। जब सूत्रात्मा प्राण शरीर में प्रतिष्ठित हो गया, तब पुनः सब प्रतिष्ठित हो गये। इसमें दृष्टान्त सुनना चाहते हो, तो सुनो। रानी मधुमक्खी जब मधु का छत्ता छोड़कर उड़ने लगती है, तब अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उसके पीछे-पीछे निकलने लगती हैं। किन्तु यदि रानी मधुमक्खी छत्ते में प्रतिष्ठित हो जाए, तो अन्य सब मधुमक्खियाँ भी प्रतिष्ठित हो जाती हैं। यही स्थिति वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र आदि देवों की भी है, अर्थात् प्राणरूप राजा के शरीर से निकलने पर वे भी निकलने लगते हैं और प्राण प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जिसके बाहर निकलने में प्रवृत्त होते ही अन्य सब भी बाहर निकलने लगें और जिसके प्रतिष्ठित हो जाने पर सब प्रतिष्ठित हो जाएँ, उसी को सबसे बड़ा या वरिष्ठ मानना चाहिए। अतः सूत्रात्मा प्राण ही सब देवों में वरिष्ठ है।[1] मनसहित ज्ञानेन्द्रियों ने भी प्राण की वरिष्ठता स्वीकार की और वे सब प्रीतिमग्न होकर प्राण की स्तुति करने लगीं—

"यह प्राण ही अग्नि होकर तप रहा है। यही सूर्य का आधार है, यही पर्जन्य का आधार है, यही विद्युत्-रूप इन्द्र का आधार है। यही वायु का आधार है, यही पृथिवी का आधार है, यही देव

---

१. ते प्रकाश्याभिवदन्ति, वयमेतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामः (२।२)। तान् वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथ। अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामीति। ते ऽ श्रद्दधाना बभूवुः (२।३)। सो ऽ भिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिँश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति। —२।४

'रयि' का आधार है। स्थूल, सूक्ष्म एवं अमृत जो कुछ भी है, सब प्राण के ही आश्रित है।''[१]

''जैसे रथचक्र के आरे रथनाभि में प्रतिष्ठित होते हैं, ऐसे ही ऋचाएँ, यजुः, साम, यज्ञ, क्षत्र, ब्रह्म सब प्राण में ही प्रतिष्ठित हैं।''[२]

''हे प्राण, तू ही प्रजापति होकर गर्भ में विचरता है, तू ही जन्म लेता है, तेरे लिए ही हे प्राण, ये प्रजाएँ बलि लाती हैं, जो तू प्राण, अपान, व्यान आदि द्वारा शरीर में प्रतिष्ठित है। हे प्राण, तू ही देवों को हवि पहुँचानेवाला है, तू ही पितृजनों को अन्न पहुँचानेवाला है। तू ही अथर्वाङ्गिरस (अचंचल एवं प्राणायामी) ऋषियों के सत्य चरित का कारण है।''[३]

''हे प्राण, तू ही अपने तेज से इन्द्र है, अर्थात् इन्द्र के इन्द्रत्व का कारण है। तू ही रक्षक रुद्र है, अर्थात् रुद्र के रुद्रत्व का कारण है। तू ही (पर्जन्य के रूप में) अन्तरिक्ष में विचरता है। तू ही ज्योतियों का पति सूर्य है।''[४]

''हे प्राण, जब तू वर्षा के साथ बरसता है, तब तेरी ये सब प्रजाएँ आनन्दमग्न हो जाती हैं कि अब तो मनचाहा अन्न उत्पन्न हो जाएगा।''[५]

''हे प्राण, तू व्रात्य है, अर्थात् व्रतपति एवं व्रातों (संघों) का हित करनेवाला है। तू अद्वितीय ऋषि है। तू विश्व का भोक्ता है। तू श्रेष्ठ अधिपति है। हम तुझे अन्न देते हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता, अर्थात् पालनकर्त्ता है।''[६]

---

१. एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषः।
वायुरेषं पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥ —२।५

२. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं च ब्रह्म च॥ —२।६

३. देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥ —२।८

४. इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्य्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ —२।९

५. यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ —२।१०

६. व्रात्यस्त्वं प्राणैक ऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥ —२।११

"हे प्राण, जो तेरा रूप वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में प्रतिष्ठित है, जो चक्षु में प्रतिष्ठित है, जो मन में फैला हुआ है, उसे तू शिव बनाये रख। तू शरीर में से निकल मत।"[1]

"जो कुछ भी त्रिलोकी में प्रतिष्ठित है, वह सब प्राण के वश में है। माता जैसे पुत्र की रक्षा करती है, वैसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें श्री और प्रज्ञा प्रदान कर।"[2]

मनसहित ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा की गयी अपनी यह स्तुति सुनकर और शरीर से बाहर न निकलने की प्रार्थना सुनकर प्राण शरीर से निकला नहीं। इस प्रकार सिद्ध हो गया कि प्राण ही सब देवों में वरिष्ठ है।

हे भार्गव, तुम्हारी जिज्ञासा शान्त हुई या नहीं?

उपकृत हुआ भगवन्, आपकी बड़ी कृपा है।

३. कौसल्य आश्वलायन के प्रश्न

तब कौसल्य आश्वलायन ने आगे आकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की। भगवन्, अभी आपने प्राण की वरिष्ठता बतायी है। मेरा प्रश्न इस प्राण के विषय में ही है। कृपया यह बताने का कष्ट करें कि यह प्राण कहाँ से गर्भस्थ शिशु में पैदा हो जाता है? किस हेतु से शरीर में आता है? स्वयं को भिन्न-भिन्न रूपों में बाँटकर कैसे शरीर में प्रतिष्ठित होता है? किसके द्वारा शरीर में से उत्क्रमण करता, अर्थात् मरण-काल में बाहर निकलता है? कैसे बाह्य जगत् को धारण करता है? कैसे अध्यात्म को धारण करता है?[3]

महर्षि पिप्पलाद कहने लगे—हे आश्वलायन! तू बड़े सूक्ष्म प्रश्न पूछ रहा है, ब्रह्मिष्ठ है। मैं तेरे प्रश्नों के अनुसार तुझे उपदेश करता हूँ।

---

१. या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ —२।१२

२. प्राणंस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत् प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः॥ —२।१३

३. अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्, कुत एष प्राणो जायते, कथमायात्यस्मिञ्छरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्ममिति? —३।१

पहला प्रश्न

तेरा **पहला प्रश्न** है कि प्राण गर्भस्थ शिशु में कहाँ से पैदा हो जाता है? इसका उत्तर है कि जब जीवात्मा गर्भ में आता है, तब उसके साथ-साथ प्राण भी आ जाता है। जैसे पुरुष के साथ छाया रहती है, वैसे जीवात्मा के साथ प्राण रहता है। जीवात्मा अकेला गर्भ में नहीं आता, अपितु प्राण के साथ ही आता है।[1]

दूसरा प्रश्न

तेरा **दूसरा प्रश्न** है कि क्यों प्राण शिशुदेह में आता है? इसका उत्तर है कि मन के अधिकार से आता है। मनुष्य ने पूर्वजन्मों में जो शुभाशुभ कर्म किये थे, जिनका फल उसे पूर्वजन्मों में नहीं मिल सका था, उनका संस्कार मन के अन्दर रहता है। उन शुभाशुभ कर्मों का जीवात्मा को फल भुगाने के लिए मन:सहचरित जीवात्मा के साथ प्राण भी शिशुदेह में आता है।[2]

तीसरा प्रश्न

तेरा **तीसरा प्रश्न** है कि प्राण इस शरीर के अङ्गों में स्वयं को बाँटकर कैसे स्थित होता है? इसका भी उत्तर देता हूँ। जैसे कोई सम्राट् अपने विभिन्न अधिकारियों को नियुक्त करता है कि तुम इन ग्रामों के अधिष्ठाता बनो, तुम इन ग्रामों के, वैसे ही प्राण अपने विभिन्न रूपों को देह में पृथक्-पृथक् स्थापित करता है। पायु और उपस्थ में, अर्थात् मलसंस्थान और मूत्रसंस्थान में 'अपान' को स्थित करता है। आशय यह है कि बड़ी आँत से लेकर गुदाद्वार तक के तथा गुर्दे, मूत्राशय, मूत्रनलिका एवं मूत्रेन्द्रिय के अङ्गों का व्यापार अपान के द्वारा होता है। चक्षु-श्रोत्र और मुख-नासिका में 'प्राण' स्वयं स्थित होता है, अर्थात् शरीर में दर्शन, श्रवण, शब्दोच्चारण एवं श्वास-संस्थान का कार्य प्राण से होता है। शरीर के मध्यभाग में 'समान' निवास करता है, जिसका कार्य है जाठराग्नि में होमे हुए अन्न को समावस्था में लाना, अर्थात् पचाकर एकरस करना। इसी पचे हुए अन्न से दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो नेत्र और एक मुख ये सातों अर्चियाँ जगती हैं। हृदय में आत्मा का निवास है। वहाँ एक सौ एक मुख्य नाड़ियाँ

---

१. आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छाया एतस्मिन्नेतद् आततम्। —३।३

२. मनोऽधिकृतेन आयात्यस्मिञ्छरीरे। —३।३

हैं। उनमें से प्रत्येक की फिर सौ-सौ शाखा-नाड़ियाँ हैं। उन शाखा-नाड़ियाँ में से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर सहस्र प्रतिशाखा-नाड़ियाँ हैं। इन सबमें 'व्यान' विचरता है। इस प्रकार शरीर में रक्त-सञ्चार का कार्य 'व्यान' करता है। पृष्ठवंश में ऊर्ध्ववृत्ति 'उदान' स्थित होता है, जो मनुष्य के उन्नत होकर बैठना, ऊपर उछलना आदि कार्यों में सहायक होता है।[1]

चौथा प्रश्न

वत्स! तुम्हारा **चौथा प्रश्न** है कि मृत्यु के समय प्राण किसके माध्यम से शरीर में से बाहर निकलता है। इसका उत्तर यह है कि सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ उदान प्राण को (प्राणसहित जीवात्मा को) पुण्यकर्म के प्रभाव से पुण्यलोक को और पापकर्म के प्रभाव से पापलोक को तथा पुण्य-पाप दोनों प्रकार के कर्मों से मनुष्य-लोक को ले जाता है। अतः उदान के माध्यम से प्राण शरीर से बाहर निकलता है।[2]

पाँचवाँ प्रश्न

प्रिय आश्वलायन! तुम्हारा **पाँचवाँ प्रश्न** है कि यह प्राण कैसे बाह्यलोक को धारण करता है और कैसे शरीर-लोक को? सुनो, इसकी भी व्याख्या करता हूँ। आदित्य बाह्य 'प्राण' के रूप में उदित होता है। पृथिवी की देवता अग्नि बाह्य 'अपान' है। पृथिवी और सूर्य के मध्य में जो आकाश है, वह बाह्य 'समान' है। वायु बाह्य 'व्यान' है। बाह्य तेज 'उदान' है। बाह्य प्राण सूर्य शारीरिक चाक्षुष प्राण को अनुगृहीत करता रहता है, अर्थात् सूर्य से नेत्र की शक्ति परिपुष्ट होती है। बाह्य अपानरूप पार्थिव अग्नि पुरुष-शरीरस्थ अपान को पुष्ट करती है। बाह्य 'समान' आकाश से मनुष्य का 'समान' नामक प्राण प्रबल होता है। जो बाह्य व्यान,

---

१. यथा सम्राडेवाधिकृतान् विनियुङ्क्ते, एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्वेति, एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते॥ ३।४॥ पायूपस्थेऽपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥ ३।५॥ हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां, तासां शतं शतम्, एकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति, आसु व्यानश्चरति॥ ३।६॥

२. अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥ ३।७॥

अर्थात् वायु है, वह शरीरस्थ व्यान को बल देता है। जो बाह्य उदान तेज है, उससे मनुष्य का तेज बलवान् होता है। इसलिए जब मनुष्य का तेज शान्त हो जाता है, तब उसकी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं और सूक्ष्म मनसहित जीवात्मा पुनर्जन्म को प्राप्त करता है।[१] जैसे चित्तवाला उदान प्राण को प्राप्त होता है, वैसे चित्तवाले उदान से युक्त हुआ प्राण जीवात्मा को कर्मानुसार निर्धारित लोक (योनि) में ले जाता है।[२]

जो प्राण के इस रहस्य को जान लेता है, इहलोक में उसकी प्रजा हीनकोटि की नहीं होती और स्वयं शरीर छोड़ने के बाद वह अमर हो जाता है।[३]

छहों प्रश्नों के उत्तर में ऋषि ने जो प्राणविज्ञान दिया है, उसकी फलश्रुति बताते हुए एक श्लोक में कहा गया है—

"जो शरीर में प्राण की उत्पत्ति (१), शरीर में प्राण के आगमन के हेतु (२), शरीर में प्राण के विभिन्न रूपों में अवस्थान (३), जगत् में प्राण के पाँच विभुरूपों में अवस्थान (४) और प्राण के अध्यात्म विषय (५,६) को जान लेता है, वह अमृतत्व पा लेता है, सचमुच अमृतत्व पा लेता है।"[४]

प्राणविज्ञान की इस फलश्रुति को सुनकर आश्वलायन के मानस में ऊहापोह मच गया। वह बोला—भगवन्, यह फलश्रुति मन में नहीं बैठ पायी। प्राण के उक्त रहस्य को जानने मात्र से कोई उक्त फल कैसे प्राप्त कर सकता है? आपके उपदेश से मैंने और मेरे सहपाठियों ने भी प्राणरहस्य जान लिया है, तो क्या हम इस फल को पा लेंगे?

---

१. आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयति। एष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य। अन्तरा यदाकाशः स समानो, वायुर्व्यानः॥ ३।८॥ तेजो ह वै उदानः, तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः॥ ३।९॥

२. यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥ ३।१०॥

३. य एवं विद्वान् प्राणं वेद, न हास्य प्रजा हीयते ऽ मृतो भवति। तदेष श्लोकः॥ ३।११॥

४. उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते, विज्ञायामृतमश्नुते॥ ३।१२

यह सुनकर ऋषि कहने लगे—वत्स, तुम्हारी शङ्का ठीक है, इसका उत्तर मैं देता हूँ। यहाँ प्राणविज्ञान के दो फल बतलाये हैं, पहला इहलोक में प्रजा उच्चकोटि की होना और दूसरा परलोक में अमरत्व की प्राप्ति। उपनिषद् की फलश्रुति के विषय में एक बात गाँठ बाँध लेने की है कि जहाँ-जहाँ ज्ञान के द्वारा कोई फल बतलाया गया है, वहाँ-वहाँ ज्ञान में साधना भी सम्मिलित है। प्राण के सम्बन्ध में उक्त बातों को जानकर जो प्राणसाधना करता है, उसे निःसन्देह कहे हुए फल प्राप्त हो जाते हैं। साधक शरीर के विभिन्न स्थानों में प्राण-अपान आदि पाँच रूपों में प्राण की अवस्थिति को तथा उनके कार्य को जानकर बहिःस्थ प्राण-अपान आदि द्वारा अन्तःस्थ प्राण-अपान आदि को सबल बनाता है। जब उसके प्राण-अपान आदि बलवान् हो जाते हैं, तब यदि वह गृहस्थ है, तो उसकी सन्तान भी सबल प्राणादि से युक्त होती है, क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते हैं। साधक के अपने लिए प्राणसाधना का फल यह होता है कि वह प्राणायाम आदि योगाङ्गों के द्वारा योगाभ्यास करके राग, द्वेष, मोह, शोकादि से छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर-त्याग के पश्चात् मरकर भी अमरत्व पा लेता है।

भगवन्, ठीक है, मेरी शङ्का निवृत्त हो गयी है। आपने बड़ी कृपा की।

४. सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न

इसके पश्चात् चौथे जिज्ञासु सौर्यायणी गार्ग्य ने आगे बढ़कर महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—भगवन्, जब पुरुष सोया होता है, तब कौन हैं, जो सो जाते हैं? कौन हैं, जो तब भी जागते रहते हैं? कौन-सा देव है, जो सुप्तावस्था में स्वप्न देखता है? सुषुप्ति में जो सुख अनुभव होता है, वह किसे होता है? अन्ततः किसमें सब सम्प्रतिष्ठित हो जाते हैं?[१]

गार्ग्य के प्रश्नों का एक-एक करके महर्षि ने उत्तर देना आरम्भ किया।

---

१. अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ—भगवन्, एतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिन् जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति? कस्यैतत् सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ —४।१

पहला प्रश्न

वत्स! तुम्हारा **पहला प्रश्न** है कि शरीर में किनके सो जाने से पुरुष को सोया हुआ कहते हैं? देखो, सूर्य जब अस्त होने लगता है, तब उसकी सब मरीचियाँ सूर्य के तेजोमण्डल में एक हो जाती हैं और जब सूर्य उदय होने लगता है, तब वे मरीचियाँ पुनः प्रचरण करने लगती हैं। इसी प्रकार जब पुरुष सोता है, तब सब इन्द्रियाँ मन के अन्दर एक हो जाती हैं। इसकारण वह पुरुष न कानों से सुनता है, न आँखों से देखता है, न नासिका से सूँघता है, न जिह्वा से स्वाद लेता है, न त्वचा से स्पर्श करता है, न वाणी से बोलता है, न हाथों से किसी वस्तु को ग्रहण करता है, न उपस्थ से आनन्द लेता है, न पायु से मल-विसर्जन करता है, न पैरों से चलता-फिरता है। उस समय 'यह सो रहा है' ऐसा कहते हैं।[१]

दूसरा प्रश्न

तुम्हारा **दूसरा प्रश्न** है कि वे कौन-सी शक्तियाँ हैं, जो स्वप्नावस्था में भी जागती रहती हैं। देखो, प्राणाग्नियाँ ही स्वप्नावस्था में भी शरीर में जागरूक रहती हैं। प्राणाग्निहोत्र उस समय भी चल रहा होता है। मैंने प्राणों को अग्नियाँ कहा है। यज्ञों में तीन अग्नियाँ मुख्य होती हैं। पहली है **गार्हपत्य** अग्नि। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय मनुष्य घर में इसका आधान करके आहिताग्नि बनता है और इस अग्नि को स्थिर रखता है, बुझने नहीं देता। दूसरी है **अन्वाहार्यपचन** अग्नि। इसे गार्हपत्य अग्नि में से लेकर जलाया जाता है और इसमें यज्ञ में काम आनेवाले चरु, पुरोडाश (भात, पूड़े आदि) पकाये जाते हैं। इस अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि भी है, क्योंकि यज्ञशाला में इसे दक्षिण दिशा में रखते हैं। तीसरी होती है आहवनीय अग्नि। इसे गार्हपत्य अग्नि में से ही लाकर यज्ञकुण्ड में प्रज्वलित करते हैं तथा इसमें यज्ञ की आहुतियाँ दी जाती हैं। अब यह सुनो कि स्वप्नावस्था में कौन-से तीन प्राण उक्त तीन

---

१. तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति, ताः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति, न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते, नादत्ते, नानन्दयते, न विसृजते, नेयायते। स्वपितीत्याचक्षते॥ —४।२

अग्नियों के स्थानापन्न होते हैं। स्वप्नकाल में **अपान** ही गार्हपत्य अग्नि होता है, अर्थात् गार्हपत्य अग्नि के समान प्रधान होता है, क्योंकि अपान द्वारा सञ्चालित होनेवाले मलसंस्थान और मूत्रसंस्थान अन्य काय-संस्थानों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील रहते हैं। **व्यान** ही उस समय अन्वाहार्यपचन अग्नि या दक्षिणाग्नि होता है। मैं आश्वलायन के प्रश्न के उत्तर में बतला चुका हूँ कि हृदय से निकलनेवाली नाड़ियों एवं उनकी शाखा-उपशाखाओं में व्यान विचरा करता है। इन नाड़ियों का कार्य रक्तप्रवहण आदि स्वप्नावस्था में तभी ठीक प्रकार चल सकता है, यदि अपान द्वारा सञ्चालित मलसंस्थान एवं मूत्रसंस्थान भलीभाँति काम कर रहे हों। मलसंस्थान एवं मूत्रसंस्थान ही मन्द हों, तो नाड़ी-संस्थान भी मन्द पड़ जाएगा। इस प्रकार स्वप्नावस्था में व्यान, क्योंकि अपान से प्रभावित होता है, अर्थात् बाह्ययज्ञ में जैसे अन्वाहार्यपचन अग्नि गार्हपत्याग्नि में से लायी जाती है, वैसे ही व्यान मानो अपान में से लया जाता है। अतः उसे अन्वाहार्यपचन अग्नि या दक्षिणाग्नि कहा गया है। स्वप्नकाल में **प्राण** आहवनीय अग्नि होता है। आहवनीय अग्नि भी जैसे गार्हपत्य अग्नि में से लायी जाती है, वैसे ही स्वप्नावस्था का चक्षुःश्रोत्रमुखनासिकावर्ती प्राण भी गार्हपत्यरूप अपान पर आश्रित होता है।[1]

इस प्राण रूप आहवनीय अग्नि में श्वासोच्छ्वास-रूप आहुतियाँ पड़ती रहती हैं, जिससे स्वप्नावस्था में भी प्राणाग्निहोत्र चलता रहता है। जैसे बाह्ययज्ञ में 'होता' नामक ऋत्विज् समानरूप से आहुतियाँ डालता है, वैसे ही स्वप्नावस्था में श्वासोच्छ्वास-रूप आहुतियों का जो समीकरण करता है, वह 'समान' वायु ही प्राणाग्निहोत्र का 'होता' नामक ऋत्विज् है। मन ही यजमान है। स्वप्नकाल के इस प्राणाग्निहोत्र का इष्टफल है 'उदान', जो प्रतिदिन मन-रूप यजमान को स्वप्नावस्था के आनन्द-रूप ब्रह्म को प्राप्त कराया करता है।[2] इस प्रकार स्वप्नकालीन प्राणाग्निहोत्र की यह तालिका बनती है—

---

१. प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽ पानो, व्यानोऽन्वाहार्यपचनो, यद् गार्हपत्यात् प्रणीयते, प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ४।३

२. यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानो, मनो ह वाव यजमानः, इष्टफलमेवोदानः, स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४।४

प्राणाग्निहोत्र के अङ्ग	बाह्य यज्ञ के अङ्ग
अपान	गार्हपत्य अग्नि
व्यान	अन्वाहार्यपचन अग्नि (दक्षिणाग्नि)
प्राण	आहवनीय अग्नि
श्वासोच्छ्वास	आहुतियाँ
समान	होता ऋत्विज्
उदान	इष्टफल
मन	यजमान

तीसरा प्रश्न

हे गार्ग्य, तुम्हारा **तीसरा प्रश्न** है कि स्वप्नावस्था में स्वप्न देखनेवाला कौन-सा देव है? इसका उत्तर है कि स्वप्नों का द्रष्टा मन है, वही स्वप्न की सब महिमा का अनुभव करता है। वह मन जाग्रदवस्था में जो-जो देखा होता है, उसे स्वप्न में देखता है, जाग्रदवस्था में जो-जो सुना होता है, उसे स्वप्न में अनुभव करता है, देश-दिगन्तरों में जो अनुभव किया होता है, उसे स्वप्न में पुनः-पुनः अनुभव करता है। वह मन दृष्ट और अदृष्ट, श्रुत और अश्रुत, अनुभूत और अननुभूत, स्थूल और सूक्ष्म सब-कुछ देखता है, सर्वाकार होकर देखता है।[1]

हे भगवन्, यह तो समझ में आता है है कि जागते हुए मन ने इन्द्रियों द्वारा जो कुछ देखा, सुना, चखा, सूँघा हो, उसे वह स्वप्न में बिना इन्द्रियों के भी अनुभव करे, परन्तु अनदेखे, अनसुने, अनचखे, अनसूँघे को भी स्वप्न में मन देखे, सुने, चखे, सूँघे यह कैसे सम्भव है?

देखो वत्स, कल्पना करो किसी ने पाटलिपुत्र नगर नहीं देखा है, परन्तु सोते हुए उसे पाटलिपुत्र देखने का स्वप्न आ सकता है, क्योंकि इन्द्रप्रस्थ में जो राजमार्ग, भवन, कल-कारखाने, यान, भीड़भाड़ आदि उसने देखे होते हैं, उनका सम्बन्ध वह पाटलिपुत्र से भी जोड़ सकता है। जागते हुए उसने मनुष्यों को सड़कों पर चलते तथा पक्षियों को आकाश में उड़ते देखा होता है, अतः वह

---

१. अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति, देश-दिगन्तैरश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च, श्रुतं चाश्रुतं च, अनुभूतं चाननुभूतं च, सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति॥
—४।५

पक्षियों के साथ सड़कों पर चलने की तथा मनुष्यों के साथ आकाश में उड़ने की क्रिया का सम्बन्ध जोड़कर पक्षियों के सड़कों पर चलने का और मनुष्यों के आकाश में उड़ने का स्वप्न भी देख सकता है। पर जिस बात को किसी ने किसी भी सम्बन्ध से नहीं देखा है, उसका स्वप्न उसे नहीं आ सकता। जैसे जन्मान्ध को रङ्ग का स्वप्न नहीं आयेगा, क्योंकि रङ्ग को उसने कहीं भी किसी भी वस्तु के साथ नहीं देखा है। किन्तु जो बचपन या यौवन में रङ्ग देख चुका है, बाद में किसी कारण अन्धा हुआ है, उसे रङ्ग का स्वप्न आ सकता है।

चौथा प्रश्न

प्रिय गार्ग्य, तुम्हारा **चौथा प्रश्न** यह है कि सुषुप्तिकाल में (प्रगाढ़ निद्रा में) जो सुख अनुभव होता है, वह किसे होता है? देखो, जब तक मनुष्य स्वप्नों के चक्र में पड़ा रहता है, तब तक उसे वास्तविक निश्चिन्तता का सुख नहीं मिल पाता। वह स्वप्न में स्वयं को धनी हुआ देखता है, तो क्षणिक सुख भले ही हो जाए, किन्तु अगले ही क्षण या अगली रात्रि को जब उसे अपना धन लुट जाने, महल जल जाने, प्रियजनों के मृत हो जाने आदि का स्वप्न आता है, तब वह अति दुःखी भी हो जाता है। इसलिए स्वप्नावस्था में वास्तविक सुख नहीं है। जब मन-रूप देव तेज से, अर्थात् आत्मा से अभिभूत हो जाता है, दब जाता है, तब वह स्वप्न देखना बन्द कर देता है और प्रगाढ़ निद्रा में मग्न हो जाता है, जिसे सुषुप्ति की अवस्था कहते हैं। उस समय इस शरीर में आत्मा को सुख की अनुभूति होती है, जिसे जागने के बाद वह इस रूप में व्यक्त करता है कि—"आज मैं बड़ी सुख की नींद सोया।"[१]

पाँचवाँ प्रश्न

हे सौम्य, तुम्हारा **पाँचवाँ प्रश्न** यह है कि वह कौन है, जिसके अन्दर सुषुप्ति-काल में सब सम्प्रतिष्ठित हो जाते हैं? उसका उत्तर भी सुनो। जैसे पक्षीगण रात्रि में अपने आवास-वृक्ष पर जा बैठते हैं, वैसे ही सुषुप्ति-काल में सब-कुछ उत्कृष्ट आत्मा के अन्दर सम्प्रतिष्ठित हो जाता है।[२] पृथिवी और उसकी तन्मात्रा

---

१. स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान् न पश्यति।
अथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत् सुखं भवति॥ —४।६

२. स यथा सोम्य, वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ —४।७

गन्ध, जल और उसकी तन्मात्रा रस, तेज और उसकी तन्मात्रा रूप, वायु और उसकी तन्मात्रा स्पर्श, आकाश और उसकी तन्मात्रा शब्द, चक्षु और द्रष्टव्य विषय, श्रोत्र और श्रोतव्य विषय, घ्राण (नासिका) और घ्रातव्य (सूँघने योग्य) विषय, रसना (जिह्वा) और रसनीय (स्वाद लेने योग्य) विषय, त्वचा और स्पर्शनीय विषय, वाणी और वक्तव्य शब्द, हाथ और ग्राह्य विषय, उपस्थ और उपस्थ का विषय, गुदा और विसर्जनीय मल, पैर और गन्तव्य लक्ष्य, मन और मननीय विषय, बुद्धि और बोद्धव्य विषय, अहंकार और अहंकर्त्तव्य विषय, चित्त और चेतयितव्य विषय, तेज और विद्योतनीय विषय, प्राण और विधारयितव्य (धारण करने योग्य) शरीर सब उत्कृष्ट जीवात्मा में एकीभूत हो जाते हैं।[1] यह विज्ञानात्मा पुरुष (जीवात्मा) ही आँख से देखनेवाला है, त्वचा से स्पर्श करनेवाला है, श्रोत्र से सुननेवाला है, रसना से स्वाद लेनेवाला है, मन से मनन करनेवाला है। वह जीवात्मा भी सुषुप्ति-काल में अन्ततः परम अक्षर परमात्मा में सम्प्रतिष्ठित हो जाता है, परम अक्षर ब्रह्म को ही पा लेता है।[1]

हे सोम्य, वह परम अक्षर, अर्थात् अविनाशी परमात्मा छायारहित है, शरीर-रहित है, लाल आदि रङ्ग से रहित है, शुभ्र है। उसे जो जान लेता है, उसकी जो अनुभूति पा लेता है, वह 'सर्वज्ञ' हो जाता है, 'सर्वरूप' हो जाता है।[2] इसी विषय में यह श्लोक कहा गया है—

---

१. पृथिवी च पृथिवीमात्रा च, आपश्चापोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाकाशमात्रा च, चक्षुश्च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक् च स्पर्शयितव्यं च, वाक् च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, मनश्च मन्तव्यं च, बुद्धिश्च बोद्धव्यं च, अहंकारश्चाहंकर्तव्यं च, चित्तं च चेतयितव्यं च, तेजश्च विद्योतयितव्यं च, प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ —४।८

२. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ —४।९

३. परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते। स यो ह वै तदच्छायम् अशरीरम् अलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य, स सर्वज्ञः सर्वो भवति॥ —४।१०

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥
—४।११

"जिसमें अन्ततः सब इन्द्रियों सहित विज्ञानात्मा (जीवात्मा), सब प्राण एवं शरीर के घटक पञ्चभूत सम्प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उस अविनाशी अक्षर परमात्मा को हे सोम्य, जो जान जाता है, उसकी अनुभूति प्राप्त कर लेता है, वह 'सर्वज्ञ' हो जाता है और 'सर्व' में प्रविष्ट हो जाता है।"

गुरुजी, यह फलश्रुति तो कुछ समझ में नहीं आयी। सर्वज्ञ तो केवल परमात्मा है, जीव तो अल्पज्ञ है, कितना ही ज्ञानी क्यों न हो जाए वह अल्पज्ञ ही रहेगा और सब (सर्व) में प्रविष्ट भी परमात्मा ही हो सकता है, जीव नहीं, क्योंकि परमात्मा ही सर्वव्यापक है।

ठीक है वत्स, तुम्हारी शङ्का। उत्तर सुनो। 'सर्वज्ञ' का अर्थ यहाँ वह नहीं है, जो तुम समझे हो। 'सर्व' परमेश्वर का नाम है, क्योंकि अन्ततः इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, जीवात्मा आदि सब उसी में सम्प्रतिष्ठित होते हैं। उस 'सर्व' नामक परमेश्वर के ज्ञाता को यहाँ 'सर्वज्ञ' कहा गया है। जो उसे जान लेता है एवं साधना द्वारा हृदय में अनुभव कर लेता है, वह उसी में प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसमें लीन रहता है, उसे बाह्य वस्तुओं की इच्छा नहीं रहती, यह 'सर्व' में प्रविष्ट होने का तात्पर्य है।

५. शैव्य सत्यकाम का प्रश्न

अब शैव्य सत्यकाम की बारी है। वह आचार्य के समीपस्थ हो प्रश्न करता है। भगवन्, मनुष्यों में जो मृत्युपर्यन्त ओङ्कार का ध्यान करता रहे, उससे वह कौन-से लोक को जीतता है?[1]

आचार्य उत्तर देते हैं। देखो, ओङ्कार से ग्राह्य ब्रह्म दो प्रकार का है, परब्रह्म और अपरब्रह्म। परब्रह्म से जगदतीत ब्रह्म और अपरब्रह्म से जगद्विशिष्ट ब्रह्म अभिप्रेत है। जगत् में अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, मेघमण्डल, पर्वत, नदी, सरोवर, समुद्र, वन, वृक्ष, लताएँ सब में ब्रह्म की विभूति एवं ब्रह्म का कर्तृत्व दृष्टिगोचर

---

१. अथ हैनं शैव्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वा तद् भगवन्, मनुष्येषु प्रायणान्तम् ओङ्कारमभिध्यायीत, कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥
—५।१

होता है। जगत् के अणु-अणु में दीखनेवाला ब्रह्म अपरब्रह्म है और जगत् से परे अपने असली निर्विकार स्वरूप में विद्यमान जो ब्रह्म है, वह परब्रह्म है। अतः ओङ्कार के ध्यान से उपासक इन्हीं दोनों ब्रह्मों में से किसी एक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[1]

ओङ्कार में अ, उ, म् तीन मात्राएँ होती हैं। यदि उपासक ऋचाओं द्वारा ओङ्कार की एक मात्रा का ध्यान करता है, तो उससे भावित होकर मरणानन्तर वह शीघ्र ही भूमि पर जन्म पाता है। ऋचाएँ उसे मनुष्यलोक प्राप्त कराती हैं। वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से सम्पन्न रहता हुआ महिमा का अनुभव करता है।[2]

यदि उपासक ओङ्कार की 'अ, उ' इन दो मात्राओं का ऋचाओं एवं यजुर्मन्त्रों द्वारा मन से ध्यान करता है, तो वह मरणानन्तर ऋचाओं एवं यजुर्मन्त्रों द्वारा अन्तरिक्ष में सोमलोक में पहुँचा दिया जाता है। वह सोमलोक में विभूति का अनुभव करके यथासमय पुनः लौटकर भूलोक में जन्म पाता है।[3]

यदि उपासक अ, उ, म् इन तीन मात्राओं से 'ओम्' अक्षर द्वारा परमपुरुष का ध्यान करता है, तो वह तेजोमय सूर्य को सम्प्राप्त होता है। जैसे साँप केंचुली से छूट जाता है, वैसे ही वह पाप से छूटकर सामों द्वारा उच्च ब्रह्मलोक में पहुँचा दिया जाता है। वह इस जीवघन जीवात्मा से परे वर्त्तमान ब्रह्माण्डपुरी में शयन करनेवाले पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।[4] इस विषय में ये दो श्लोक हैं—

---

१. तस्मै स होवाच। एतद् वै सत्यकाम, परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद् विद्वानेतेनैव आयतनेन एकतरमन्वेति॥ —५।२

२. स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥ —५।३

३. अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते, स सोमलोकः। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ —५।४

४. यः पुनरेतं त्रिमात्रेण ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते॥ —५।५

**तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते च॥**
—५।६

"ओङ्कार की तीनों मात्राएँ 'अ, उ, म्' मृत्युमती हैं, अर्थात् उच्चारण करने के पश्चात् उनकी ध्वनि नष्ट हो जाती है। तथापि ध्यानयोग में इनकी इतनी अधिक महिमा है कि जब ज्ञानवान् जीवात्मा अपनी बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाओं में अलग-अलग नहीं, किन्तु एक-दूसरी से मिलाकर, इन्हें सम्यक् प्रयुक्त करता है, अर्थात् सबका एक-साथ ध्यान करता है, तब वह काँपता नहीं, चलायमान नहीं होता, अपितु निश्चितरूप से परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।"

ये बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाएँ क्या होती हैं, गुरुवर?

देखो, वत्स! शरीर की बाह्य क्रियाएँ वे हैं, जो अपने-आप होती रहती हैं, आत्मा को उनके लिए प्रयास नहीं करना पड़ता, जैसे रक्त-सञ्चालन, खाये हुए भोजन का पाचन, श्वासोच्छ्वास आदि। आभ्यन्तर क्रिया से तात्पर्य है ध्यानयोग, जिसे आत्मा प्रयत्नपूर्वक करता है। मध्यम क्रियाओं में प्राणायाम आदि आते हैं, जो कुछ अंश में स्वाभाविक हैं, और कुछ अंश में प्रयत्नसाध्य भी। इन तीनों क्रियाओं की एक अन्य व्याख्या भी हो सकती है। बाह्य क्रियाओं में ऐसी क्रियाएँ आती हैं, जैसे भगवान् की विभूति को अनुभव करने के लिए आँख से बाहर के प्राकृतिक दृश्यों को देखना। आभ्यन्तर क्रिया से तात्पर्य है, शरीर के अन्दर मन, बुद्धि आदि साधनों से आत्मा का ईश्वर-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना। मध्यम क्रियाएँ वे हैं, जो बाह्य और आन्तरिक के बीच की हैं, जैसे प्राण को शरीर के विभिन्न चक्रों में केन्द्रित करना, आँख बन्द करना, नाड़ी की गति रोकना एवं हठयोग की विभिन्न क्रियाएँ। इन सभी क्रियाओं को करते हुए यदि साधक अपने मानस में ओङ्कार की तीनों मात्राओं का एक-साथ ध्यान करता रहता है, तो वह परमात्म-दर्शनरूप लक्ष्य से विचलित नहीं होता।

आचार्यजी, 'अ, उ, म्' तो तीन अक्षर मात्र हैं; इनमें क्या भरा है, जो इनके ध्यान से साधक को इतना बड़ा फल प्राप्त हो जाता है?

साधुवाद वत्स, तुम सावधान हो। ओङ्कार की इन तीन

मात्राओं में चराचर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। यह बात तुम इस तालिका से समझ सकोगे—

अ	उ	म्
सर्ग	**स्थिति**	**प्रलय**
पृथिवी	**अन्तरिक्ष**	**द्यौ**
अग्नि	**चन्द्र**	**आदित्य**
प्रकृति	**जीव**	**ईश्वर**
जाग्रत्	**स्वप्न**	**सुषुप्ति**
ऋग्	**यजुः**	**साम**
ज्ञान	**कर्म**	**उपासना**
तमस्	**रजस्**	**सत्त्व**
भूत	**वर्त्तमान**	**भविष्य**
विट्	**क्षत्र**	**ब्रह्म**
शरीर	**मन**	**आत्मा**
व्यक्ति	**राष्ट्र**	**विश्व**
सत्यम्	**शिवम्**	**सुन्दरम्**

यह सूची अभी बहुत लम्बी हो सकती है। पर इतने से ही तुम्हें विदित हो गया होगा कि इन तीन मात्राओं में तिनके से लेकर परब्रह्म तक सब-कुछ समाविष्ट है। इससे तुम यह भी समझ जाओगे कि सब मात्राओं के एक-साथ ध्यान का क्या महत्त्व है। देखो, अकेले सर्ग, अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के विचार से कुछ नहीं बनता, जब तक उसके साथ स्थिति और प्रलय का भी विचार न हो। अकेली पृथिवी का विचार अपने-आप में अपूर्ण है, जब तक उसके साथ अन्तरिक्ष और द्युलोक का भी विचार न किया जाए। अकेली पार्थिव अग्नि का विचार अधूरा है, जब तक उसके साथ अन्तरिक्षस्थ चन्द्रमा और द्युलोकस्थ आदित्य का भी विचार न करें। इसी प्रकार आगे समझो। दूसरा श्लोक यह है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् तत् कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरमभयं परं चेति॥

—५।७

"उपासक ओङ्कार की 'अ' मात्रा के ध्यान से ऋचाओं द्वारा

इस पार्थिवलोक (मनुष्यलोक) को प्राप्त करता है। 'अ, उ' इन दो मात्राओं के ध्यान से (ऋचाओं और) यजुर्मन्त्रों द्वारा अन्तरिक्षलोक को पाता है। 'अ, उ, म्' इन तीन मात्राओं के ध्यान से (ऋचाओं, यजुर्मन्त्रों और) सामों द्वारा उस (आदित्यलोक) को पाता है, जिसे कविजन (आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत ऊँचे उठे हुए लोग) पाया करते हैं। विद्वान् उपासक ओङ्कार-रूप आयतन (आश्रय) के ही द्वारा उसे पा लेता है, जो वह शान्त, अजर, अमर और पर ब्रह्म है।"

गुरु से अपने प्रश्न का उत्तर सुन सत्यकाम फिर पूछ बैठा—भगवन्, मनुष्यलोक तो समझ में आता है, किन्तु ये सोमलोक और सूर्यलोक कौन-से हैं, जो क्रमशः ओङ्कार की दो मात्राओं तथा तीन मात्राओं से पर ब्रह्म का ध्यान करने पर प्राप्त होते हैं?

सुनो सत्यकाम, तुम्हारे इस प्रश्न का भी उत्तर देता हूँ, आचार्य पिप्पलाद बोले। देखो, हमारा यह एक सौर जगत् है, जिसका केन्द्र सूर्य है। मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, पृथिवी आदि ग्रह सूर्य की आकर्षणशक्ति से खिंचे हुए उसकी परिक्रमा कर रहे हैं। इन सभी ग्रहों के अपने-अपने एक या अधिक चन्द्रमा हैं, जो उपग्रह कहलाते हैं तथा अपने-अपने ग्रहों की परिक्रमा करते हुए साथ-साथ सूर्य की भी परिक्रमा कर रहे हैं। हमारी पृथिवी भी इन्हीं ग्रहों में से एक है तथा अन्य ग्रहों की अपेक्षा सूर्य से अधिक दूरी पर स्थित है। इस पृथिवी पर मनुष्यलोक है, यह तुम जानते ही हो। पृथिवी से सूर्य के ऊपर तक की दूरी को तीन काल्पनिक भागों में बाँटा गया है—पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक। अन्तरिक्ष में सोमलोक है। सोम चन्द्रमा को कहते हैं। जैसे हमारी पृथिवी का एक चन्द्रमा है, वैसे ही मङ्गल, बुध आदि ग्रहों के भी एक या अधिक चन्द्रमा हैं। इन चन्द्रमाओं में से किसी में मनुष्यादि प्राणी हो सकते हैं, किसी में नहीं। ऐसा भी हो सकता है कि भूतकाल में किसी चन्द्रमा में मनुष्यादि प्राणी रहे हों, किन्तु अब न हों या आज किसी चन्द्रमा में मनुष्यादि प्राणी नहीं हैं, किन्तु भविष्य में हो जाएँ। यह उस-उस चन्द्रमा की जल, वायु आदि की परिस्थिति पर निर्भर है। जिन चन्द्रमाओं या सोमलोकों में मनुष्यादि प्राणियों के रहने योग्य परिस्थिति है, उन्हीं में से किसी सोमलोक में ओङ्कार की दो मात्राओं से ध्यान करनेवाला साधक मृत्यु के अनन्तर जन्म पाता है। हमारी पृथिवी

की अपेक्षा सूर्य के अधिक समीप होने से वहाँ अधिक विभूति होती है, अध्यात्म का वातावरण भी अधिक होता है। हृदय, मस्तिष्क, मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि भी वहाँ के वातावरण में अधिक सबल होती हैं। अत: उस सोमलोक में रहना वरदान है। तीसरा द्युलोक है, जहाँ सूर्य की स्थिति है। यह सूर्यलोक ही मुक्तिलोक है, जहाँ ताप की प्रचण्डता में अशरीरी मुक्तात्मा निवास करते हैं। इसी सूर्यलोक को ओङ्कार की तीन मात्राओं से ध्यान करनेवाले साधक प्राप्त करते हैं। वहाँ का वातावरण ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि सबसे रहित होने के कारण मुक्तात्माओं के निवास के अधिक अनुकूल है। वे मुक्तात्मा स्वेच्छानुसार अन्य लोकों में भी भ्रमण कर सकते हैं।

वत्स! यह भूलोक (मनुष्यलोक), सोमलोक और सूर्यलोक की अधिदैवत व्याख्या है। अध्यात्म व्याख्या भी तुम्हें बताता हूँ। मानव-देह के अन्दर ही ये तीनों लोक विद्यमान हैं। मनुष्य के शरीर में पाँच कोष होते हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। अन्नमय कोष में त्वचा, मांस, मज्जा, हड्डी, नस-नाड़ियाँ आदि से युक्त शरीर का ढाँचा आता है। प्राणमय कोष प्राण, अपान आदि पाँच प्राणों से मिलकर बनता है। मनोमय कोष में मन के साथ अहंकार तथा कर्मेन्द्रियाँ आती हैं। विज्ञानमय कोष में बुद्धि, चित्त तथा ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। आनन्दमय कोष में आत्मा आनन्द का अनुभव करता है। इनमें से अन्नमय और प्राणमय कोष मिलकर भूलोक कहलाता है। जो साधक ओङ्कार की एक मात्रा का ध्यान करते हैं वे नये जन्म में ऐसा मानव शरीर पाते हैं, जिसमें अन्नमय और प्राणमय कोष अत्यन्त प्रबल होते हैं। उनके अन्नमय कोष में आनेवाले शरीरावयव तथा पाँच प्राण बड़े शक्तिशाली होते हैं। उन शक्तिशाली कोषों से कार्य लेता हुआ तथा तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से रहता हुआ वह जीवन-यापन करता है।

दूसरे अन्तरिक्षवर्ती सोमलोक में मनोमय तथा विज्ञानमय कोष आते हैं। ओङ्कार की दो मात्राओं का ध्यान करनेवाले साधक सोमलोक में जन्म पाते हैं, इसका आशय यह है कि उन्हें नवीन जन्म में जो शरीर मिलता है, उसमें मनोमय तथा विज्ञानमय कोष बहुत बलवान् होते हैं। उनसे मिलनेवाली विभूति का वह भोग करता है।

तीसरे सूर्यलोक में आनन्दमय कोष आता है। ओङ्कार की

तीन मात्राओं से ध्यान करनेवाले सूर्यलोक में जाते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि जो नया जन्म उन्हें मिलता है, उसमें उनका आनन्दमय कोष बहुत समृद्ध होता है, जिससे वे जीवन्मुक्त रहते हुए आनन्द ही आनन्द का अनुभव करते हैं और शरीर-त्याग के पश्चात् दुःखों से मुक्ति पा लेते हैं।

६. सुकेशा भारद्वाज का प्रश्न

शैव्य सत्यकाम जब अपने प्रश्न का उत्तर पा चुके तब छठे जिज्ञासु सुकेशा भारद्वाज ने महर्षि का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करके कहना आरम्भ किया। भगवन्, एक बार की बात है कि अयोध्या के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर मुझसे प्रश्न किया था—'हे भारद्वाज! क्या तुम षोडशकल पुरुष को जानते हो?' तब मैंने उस कुमार को कहा था—'मैं षोडशकल पुरुष को नहीं जानता। यदि मैं जानता होता, तो आपको क्यों न बतला देता। जो असत्य बोलता है, वह समूल सूख जाता है। इसलिए मैं असत्य नहीं कह रहा हूँ।' मेरे इस उत्तर को सुनकर वह चुपचाप अपने रथ पर चढ़कर वापिस चला गया था। वह प्रश्न हे भगवन्! मैं आपसे पूछता हूँ कि षोडशकल (सोलह कलाओं वाला) पुरुष कहाँ है और कौन-सा है?[1]

भारद्वाज का यह प्रश्न सुनकर महर्षि ने कहा। हे सोम्य, वह पुरुष इस शरीर के अन्दर ही रहता है, जिसमें सोलह कलाएँ पनपती हैं। वह मनुष्य का जीवात्मा है।[2]

जीवात्मा जब शरीर में आने लगा तब उसने विचार किया कि ऐसी कौन-सी वस्तुएँ हैं, जिनके न रहने पर मैं हीन हो जाऊँगा और जिनके प्रतिष्ठित हो जाने पर प्रतिष्ठित हो जाऊँगा।[3]

---

१. अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्, हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिमम् अवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि 'क्वासौ पुरुष' इति॥ —६।१

२. तस्मै स होवाच—इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥ —६।२

३. स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नु अहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि? कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥ —६।३

उसने प्राण को अपने साथ लिया। प्राण के अनन्तर श्रद्धा को, आकाश को, वायु को, ज्योति को, जल को, पृथिवी को, इन्द्रियों को, मन को, अन्न को, अन्न के अनन्तर वीर्य को, तप को, मन्त्रों को, कर्म को, लोकों को और लोकों में नाम को।[१] ये सोलह वस्तुएँ हो गईं। इन्हीं से शरीर में रहनेवाला आत्मा षोडशकल या सोलह कलाओंवाला कहलाता है। इन सोलह कलाओं की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **प्राण**—जीवात्मा के साथ यदि प्राण न हो तो गर्भाशय में जीवात्मा के प्रविष्ट हो जाने पर भी शरीर जीवित नहीं हो सकता, अतः प्राण-रूप कला का जीव के साथ रहना अनिवार्य है।

२. **श्रद्धा**—यह शब्द 'श्रत्' और 'धा' से मिलकर बना है। 'श्रत्' का अर्थ है सत्य और धा का अर्थ है धारण करना। सत्य में आस्था रखने का नाम श्रद्धा है। मनुष्य में श्रद्धा का तत्त्व न हो तो न वह परमेश्वर में आस्था रखेगा, न पुनर्जन्म में, न सत्कर्मों में। उसकी मति होगी कि संसार में न परमेश्वर है, न जीवात्मा है, न कर्मफल देनेवाला तथा भोगनेवाला कोई है। इसलिए जैसा चाहो, जीवन व्यतीत करो। खाओ, पिओ, मौज मनाओ। अपने पास धन न हो, तो दूसरों का धन छीन लो। परिणामतः श्रद्धा के अभाव में उसकी दुर्गति होगी। अतः आत्मा श्रद्धा के बिना अपूर्ण है।

३-७. **पञ्चभूत**—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी। ये पञ्चभूत न हों तो जीवात्मा का निवासगृह पाञ्चभौतिक देह नहीं बन सकता। आत्मा देह में आकर ही पूर्व कृत कर्मों का भोग तथा नवीन कर्म करता है, अभ्युदय एवं मोक्ष के लिए यत्नशील होता है। अतः पूर्णता की प्राप्ति के लिए पञ्चभूतों का होना भी अनिवार्य है।

८. **इन्द्रिय**—ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान-ग्रहण का साधन हैं और कर्मेन्द्रियाँ कर्म करने का। आँख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आँख से आत्मा को चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, नाक से घ्राणज प्रत्यक्ष, कान से श्रावण प्रत्यक्ष, जिह्वा

---

१. स प्राणसृजत, प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्। मनोऽन्नम्, अन्नाद् वीर्यं, तपो, मन्त्राः, कर्म, लोकाः, लोकेषु नाम च॥ —६।४

से स्वादज प्रत्यक्ष और त्वचा से स्पर्श का प्रत्यक्ष। बाहु, पैर, मुख; पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनसे आत्मा विभिन्न कार्यों को करता है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी आत्मा के कार्यकलापों में सहयोग देने के कारण आत्मा की कला हैं।

९. **मन**—मन से आत्मा मनन-चिन्तन करता है। इन्द्रियाँ भी मन से ही संयुक्त होकर ज्ञान ग्रहण करने एवं कार्य करने में समर्थ होती हैं। आँखें खुली होने पर भी यदि मन आँखों के साथ प्रवृत्त न हो तो आत्मा दृश्य को देख नहीं पाता। हाथों से शत्रु पर तलवार चलानी है, पर यदि मन का ध्यान उधर न हो, तो शत्रु के स्थान पर मित्र का या अपना अङ्ग ही तलवार से कट जाए। इसलिए मन-रूप कला भी आत्मा की पूर्णता के लिए अनिवार्य है।

१०. **अन्न**—अन्न में सभी खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य आदि वस्तुएँ आ जाती हैं। भोज्य एवं पेय वस्तुओं के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता, अतः शरीरधारी जीवात्मा के लिए अन्नरूप कला का होना भी आवश्यक है।

११. **वीर्य**—अन्न के खाने से शरीर में रक्त, मांस, मज्जा आदि बनते हैं, जिनकी परिणति वीर्य में होती है। वीर्य शरीरस्थ आत्मा के लिए बहुमूल्य वस्तु है। ऊर्ध्वरेता योगी महात्मा लोग इस वीर्य को शरीर में खपाकर महान् कर्म करने में समर्थ हो जाते हैं। वीर्य का अर्थ बल-पराक्रम भी लिया जा सकता है। वह भी मानव की पूर्णता के लिए आवश्यक है।

१२. **तप**—द्वन्द्व-सहन को तप कहा गया है। सर्दी-गर्मी, अशन-अनशन, सुख-दुःख, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय आदि में चित्त की समता स्थापित किये रहने का अभ्यास पूर्णता की ओर अग्रसर होने में परम सहायक है। जो अल्प-सी प्रतिकूलता आने पर घबरा उठते हैं, बेचैन हो जाते हैं, वश से बाहर हो जाते हैं, वे अत्यन्त अपूर्ण मानव होते हैं। तप शारीरिक भी होता है, मानसिक भी। शरीर को कष्ट देने का नाम तप प्रचलित हो गया है। किन्तु वह भी उस स्थिति में तप कहला सकता है, जब उससे हम द्वन्द्व-सहन की साधना करते हैं। प्रदर्शन के लिए शरीर को कष्ट देना तप नहीं है। मानसिक तप में मन को विषयों से हटाकर उसे एकाग्र या निर्विषय करना होता है। मानसिक तप से आत्मा

को विभिन्न योगसिद्धियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं।

१३. **मन्त्र**—पूर्णताप्राप्ति के लिए वेदमन्त्रों का पारायण, अध्ययन एवं अर्थबोध भी आवश्यक है। वेद-मन्त्रों से पाठक को व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक उभयविध ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मन्त्र से वेदानुकूल इतर ज्ञान-विज्ञानों का भी ग्रहण हो जाता है। कोई व्यक्ति जितना अधिक बहुश्रुत एवं ज्ञानी होगा, उतना ही वह पूर्ण माना जाएगा।

१४. **कर्म**—कोई मनुष्य ज्ञानी कितना भी हो जाए, परन्तु यदि वह निकम्मा रहता है या उसके कर्म ज्ञान के विपरीत होते हैं, तो वह श्रेष्ठों के समाज से बहिष्कृत होता है। अतः मनुष्य को कर्मशील होना चाहिए तथा कर्म भी मन्त्रानुकूल, वेदानुकूल या अर्जित ज्ञान से सामञ्जस्य रखनेवाले होने चाहिएँ। एवं आत्मा की पूर्णता के लिए कर्म को भी आत्मा-रूप चन्द्र की एक कला कहा गया है।

१५. **लोक**—आत्मा को अपने निवास के लिए किसी लोक की भी आवश्यकता होती है। प्रथम तो देहरूप लोक ही चाहिए, जिसमें रहकर वह लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। फिर मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अनेक प्राप्तव्य पदार्थों एवं सुख-सुविधाओं के लिए वह समाज का ऋणी होता है, अतः समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य होते हैं। समाज या राष्ट्र भी लोक ही हैं। इहलोक एवं परलोक भी 'लोक' से अभिहित होते हैं। मुक्तिलोक भी 'लोक' में आता है। जब आत्मा शरीर में नहीं होता है, तब जहाँ-कहीं भी होता है, वह भी एक लोक ही है, अतः लोक भी षोडशकल आत्म-चन्द्र की एक कला है।

१६. **नाम**—षोडशकल आत्म-पुरुष की सोलहवीं कला है 'नाम'। नाम का स्थूल अर्थ है वह नाम जिससे किसी को पुकारा जाता है या जिसके द्वारा किसी के विषय में कुछ कहा जाता है। बिना नाम के व्यवहार नहीं चल सकता। यदि कोई व्यक्ति अपना कुछ भी नाम न बताये, तो भी व्यवहार के लिए उसका कुछ-न-कुछ नाम रख ही लेते हैं। अन्य कुछ न हो तो 'अमुक का पुत्र' कहकर ही उसके विषय में अपनी बात कह लेते हैं। 'नाम' का दूसरा अर्थ है यश। **'कीर्तिर्यस्य स जीवति'**, जीवित वही माना जाता है, जिसकी कीर्ति हो, जिसके सद्गुणों और सत्कर्मों

का गान किया जाता हो। जिसने मानव-जन्म पाकर भी कीर्ति अर्जित नहीं की, उसका जन्म निरर्थक है। इस प्रकार 'नाम' भी आत्मा की पूर्णता की एक कला है।

षोडशकल आत्मा की ये सोलह कलाएँ तभी तक उसके साथ रहती हैं, जब तक वह सांसारिक पुरुष है, अर्थात् नर-तन धारण किये हुए है या आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ है। जब वह भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है और 'परम पुरुष' को पा लेता है, तब इन कलाओं के नाम-रूप सब छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वह 'पुरुष' या 'आत्मा' ही कहलाता है; जैसे समुद्र की ओर बहती हुई नदियाँ जब समुद्र में पहुँच जाती हैं, तब यह गङ्गा है, यह यमुना है, यह निर्मल जलवाली है, यह कृष्ण जलवाली है, यह पूर्वगामिनी है, यह पश्चिमगामिनी है आदि सब कलाएँ समाप्त हो जाती हैं; इतना ही कहा जाता है कि इस समुद्र में गङ्गा मिली हुई है, यमुना मिली हुई है; उनके जल के रूप-रंग आदि अलग-अलग नहीं रहते, वे समुद्राकार हो जाती हैं। इसी प्रकार जीवात्मा जब परब्रह्म को पा लेता है, तब अपनी सब कलाओं को छोड़कर परब्रह्म के समुद्र में पड़कर आनन्दमय हो जाता है, निष्कल एवं अमर हो जाता है।[१] इस विषय में यह श्लोक भी है—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६।६

"रथचक्र की नाभि में आरों के समान जिसमें कलाएँ प्रतिष्ठित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुष जीवात्मा को तुम जानो, जिससे तुम्हें मृत्यु व्यथित न करे।"

भारद्वाज की जिज्ञासा शान्त हुई। अब छहों शिष्यों ने आचार्य पिप्पलाद से अपने-अपने प्रश्नों के उत्तर पा लिये थे। इन उत्तरों से एक-एक को ही लाभ नहीं पहुँचा, अपितु सभी ने सब प्रश्नों के उत्तर समझ लिये। ये प्रश्न सर्वथा स्वतन्त्र नहीं थे, अर्थात् ऐसा नहीं था कि प्रश्नों का आपस में कुछ सम्बन्ध न हो। ये प्रश्न क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर जिज्ञासा को लिये हुए थे।

---

१. स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति॥ —६।५

पहला प्रश्न था कि ये प्रजाएँ कहाँ से उत्पन्न हो गयी हैं, कैसे पैदा हो गयी हैं, तो दूसरा प्रश्न उसी से अगली कड़ी थी कि उत्पन्न प्रजाओं को धारित और प्रकाशित कौन करते हैं। जब महर्षि ने यह कहा कि वस्तुतः प्राण की धारक और प्रकाशक है, तो तीसरा प्रश्न प्राण के ही विषय में यह आ गया कि प्राण उत्पन्न प्रजा के अन्दर कहाँ से आ जाता है, कैसे आ जाता है, कैसे स्वयं को विभिन्नरूपों में बाँटकर शरीर में स्थित होता है आदि। फिर उत्पन्न प्रजा से ही सम्बद्ध चौथा प्रश्न हुआ कि जब प्रजा सोती है, तब कौन हैं जो सोते हैं, कौन उस समय भी जागते रहते हैं आदि। तदनन्तर पाँचवाँ प्रश्न आया कि जो प्रजा मरणपर्यन्त ओङ्कार का ध्यान करती रहे, उसे अन्त में क्या फल मिलता है। तत्पश्चात् षोडशकल पुरुष के विषय में जो प्रश्न हुआ, वह भी प्रजा से ही सम्बद्ध है, क्योंकि आत्मारूप षोडशकल पुरुष प्रजा के अन्दर ही निवास करता है। ऋषि ने उसी को ज्ञातव्य कहा है।

उपसंहार करते हुए ऋषि शिष्यों से कहते हैं कि तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर में मैंने जितना बतला दिया है, उतना ही मैं अध्यात्म ब्रह्म को जानता हूँ। इससे अधिक कुछ नहीं है।[1] इसी का मनन एवं निदिध्यासन करते रहो।

अन्त में जब सब शिष्यों की जिज्ञासाएँ शान्त हो गयीं, तब उन्होंने आचार्य की अर्चना की कि आप ही हमारे सच्चे पिता हैं, जिन्होंने हमें अविद्या के परले पार पहुँचा दिया है। परम ऋषि को हमारा नमस्कार है, परम ऋषि को हमारा नमस्कार है।[2]

---

१. तान् होवाच, एतावदेवाहंमेतत् परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति॥ ६।७

२. ते तमर्च्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽ स्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो, नमः परमऋषिभ्यः॥ —६।८

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. कौन-से शिष्य महर्षि पिप्पलाद के पास ब्रह्मज्ञान की इच्छा से पहुँचे थे। समित्पाणि होने का क्या तात्पर्य है? महर्षि ने उन्हें एक वर्ष प्रतीक्षा करने को क्यों कहा?

२. रयि और प्राण क्या हैं? इनसे प्रजाएं कैसे उत्पन्न होती हैं?

३. भार्गव वैदर्भि का प्रश्न और उसका उत्तर लिखिए।

४. प्राण की महिमा बताइये।

५. कौसल्य आश्वलायन के प्रश्न और उनके उत्तर बताइये।

६. सौर्यायणी गार्ग्य ने स्वप्नावस्थाविषयक क्या-क्या प्रश्न पूछे थे? आचार्य ने उनका क्या उत्तर दिया?

७. स्वप्नदशा में प्राणाग्नियाँ ही इस देहपुरी में जागती हैं इसे स्पष्ट कीजिए।

८. स्वप्नावस्था में मनुष्य स्वप्न किस-किस प्रकार के देख सकता है?

९. ओङ्कार का ध्यान कैसे होता है? मृत्युपर्यन्त उसका ध्यान करते रहने से क्या फल मिलता है?

१०. षोडशकल पुरुष कौन है? उसकी सोलह कलाएँ वर्णित कीजिए। मुक्ति में ये १६ कलाएँ रहती हैं या नहीं?

११. छहों शिष्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों में परस्पर सम्बन्ध दर्शाइये।

ओ३म्

५. मुण्डकोपनिषद्

ओ३म् भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणु॒याम॑ देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यज॑त्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वांस॑स्त॒नूभिः॑। व्य॑शेम दे॒वहि॑तं॒ यदायुः॑॥

हे पूजास्पद गुरुजनो, हम कानों से भद्र श्रवण करें। आँखों से भद्र देखें। दृढ अङ्गों से और शरीरों से हम आचार्य देव के द्वारा स्थापित जो चरित्रवान् आयु है, उसे भोगें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् कहलाती है। इस पर अथर्ववेद के केन-सूक्त (१०।२), स्कम्भ-सूक्त (१०।७) एवं ज्येष्ठब्रह्म-सूक्त (१०।८) का प्रभाव है। इसमें अध्यात्मविद्या वर्णित है। इसका प्रवक्ता अङ्गिरस् तथा जिज्ञासु शौनक है। यह तीन मुण्डकों में विभक्त है, प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। यह उपनिषद् पाप-ताप को मूँडनेवाली है, अतः इसे उक्त नाम दिया गया है।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

शौनक का प्रश्न—एक था शौनक, वह बहुत समृद्ध था। उसकी बहुत बड़ी हवेली (शाला) थी, इसकारण वह महाशाल शौनक के नाम से प्रसिद्ध था। ब्रह्मविद्या में उसे जिज्ञासा थी। वह अङ्गिरस् ऋषि के चरणों में पहुँचा और विधिपूर्वक शिष्यत्व ग्रहण करके उनसे प्रश्न कर उठा—भगवन्, वह तत्त्व कौन-सा है, जिसके जान लेने पर यह सब-कुछ विज्ञात हो जाता है?

अङ्गिरस् ऋषि थे बड़े ब्रह्मवेत्ता, पर अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया था। वे कहने लगे, देखो शौनक, मुझमें जो कुछ ब्रह्मविद्या है, वह मेरे गुरु की दी हुई है। किसी समय ब्रह्मा नाम का एक श्रेष्ठ विद्वान् उत्पन्न हुआ था। उसके समय जो ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ थे, उन सबका वही कर्त्ता था। वह अपने अथाह ज्ञान के कारण सबका रक्षक बना हुआ था। उसने सब विद्याओं की आधारभूत ब्रह्मविद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र को पढ़ाई, जिसका नाम अथर्व या अथर्वन् था। उसे जो ब्रह्मविद्या उसके पिता ब्रह्मा ने पढ़ाई थी, उसका उसने अङ्गिर को प्रवचन किया। अङ्गिर ने

भारद्वाज (भरद्वाजगोत्री) सत्यवाह को उसका उपदेश किया। भारद्वाज सत्यवाह से एक-दूसरे के बाद परम्परा से चली आ रही उस विद्या को ग्रहण करके मैं कृतार्थ हुआ हूँ। अब मुझसे हे शौनक, तुम प्रश्न कर रहे हो कि वह विद्या मैं तुम्हें सिखाऊँ, जिसके जान लेने से जगत् का सब-कुछ ज्ञात हो जाता है (श्लोक १-३)। तो सुनो।

अपरा और परा विद्या

गुरु का उत्तर—देखो, ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कहना है कि दो विद्याएँ अवश्य जाननी चाहिएँ—एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या।[१] उनमें अपरा विद्या है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षर (अविनाशी) परब्रह्म प्राप्त होता है, अनुभव किया जाता है।[२]

शङ्का-समाधान

यह सुन शौनक बोला—भगवन्, क्यों मुझे भ्रमा रहे हो? क्या मेरी परीक्षा लेते हो? सब वेदों और वेदाङ्गों को तो आपने अपरा, अर्थात् अश्रेष्ठ विद्या कह दिया, तो फिर परा, अर्थात् श्रेष्ठ विद्या अन्य कौन-सी रह गयी, जिससे उस 'परब्रह्म' की प्राप्ति होती है?

अङ्गिरस् जरा हँसे और उन्होंने कहना शुरु किया। तुम मेरी बात को समझने में कुछ भटक गये हो, वत्स! अपरा और परा दो विद्याएँ मैंने कही हैं। उनमें अपरा वह विद्या है, जो स्थूल विद्या, लौकिक विद्या, भौतिक विद्या आदि नामों से प्रकट की जा सकती है। इसमें भूगोल-खगोल की सब विद्याएँ आ जाती हैं। इन विद्याओं का ज्ञान वेदाङ्गों की सहायता से चारों वेदों और उनके व्याख्या-ग्रन्थों के अध्ययन से तथा वेदमूलक अन्य ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए अपरा विद्या में वेद-वेत्ताओं ने चारों वेदों एवं वेदाङ्गों को परिगणित किया है। 'परा' है वह सूक्ष्म विद्या, योगविद्या या ब्रह्मविद्या, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यही अध्यात्मविद्या भी

---

१. तस्मै स होवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। —१।१।४

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥—१।१।५

कहलाती है।

अपरा विद्या में वेदों का नामोल्लेख है, परा विद्या में नहीं है; इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परा विद्या में वेदों का कुछ काम नहीं पड़ता। है तो परा विद्या भी वेदमूलक ही, किन्तु अन्य विद्याओं से भिन्न करनेवाली उसकी विशेषता यह है कि अपरा विद्याएँ अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं होतीं, जबकि परा विद्या अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली होती है। परा विद्या के लक्षण-वाक्य **"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"** में भी अपरा विद्या में प्रोक्त चारों वेद तथा वेदाङ्ग तो स्वतः आ ही जाते हैं, अतः परा विद्या के लक्षण-वाक्य का आशय यह हो जाता है कि "छहों वेदाङ्गों की सहायता से चारों वेदों के अध्ययनपूर्वक जो सैद्धान्तिक ब्रह्मज्ञान है तथा जो ब्रह्मप्राप्ति की क्रियात्मक योगविद्या है, उसे परा विद्या कहते हैं।"

इस पर शौनक बोला—यह तो ठीक है भगवन्, आपकी बात मेरे मस्तिष्क में और हृत्पटल पर अङ्कित हो गयी। आपने जब अपरा और परा विद्याओं का लक्षण किया तब मैंने यह समझा कि परा विद्या शायद वेदों से भी ऊपर है। आपने मेरी शङ्का का समाधान कर मुझे अत्यन्त उपकृत कर दिया है, परन्तु आचार्यवर, मैंने तो आपसे यह प्रश्न पूछा था कि वह कौन-सा तत्त्व है, जिसके जान लेने से सब-कुछ जान लिया जाता है। इसका उत्तर देने के स्थान पर आपने अपरा और परा दो विद्याओं की चर्चा छेड़ दी, वह भी सूत्ररूप में। कृपया आप मेरे प्रश्न का ही उत्तर देने का कष्ट करें।

तुम्हारे ही प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ, मेरे प्यारे शिष्य, तुम अधीर मत हो। तुम्हारे ही प्रश्न का उत्तर तुम्हें समझाने के लिए मैंने अपरा और परा दो विद्याओं की भूमिका बाँधी है। देखो, मैंने अभी तुम्हें कहा है कि वह परा विद्या है, जिससे उस अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। बस, इससे समझ लो कि अक्षर ब्रह्म ही वह तत्त्व है, जिसके जान लेने से, जिसकी अनुभूति पा लेने से, जिसे हृदयङ्गम कर लेने से सब-कुछ विज्ञात हो जाता है। पर इतना कह देने मात्र से तुम कुछ अधिक समझ नहीं पाओगे, अतः कुछ विस्तार से कहता हूँ। 'परब्रह्म' का कुछ वर्णन सुनो।

भूतयोनि ब्रह्म

वह ब्रह्म अदृश्य है, आँखों से नहीं दीखता। वह अग्राह्य है,

हाथों से पकड़ा नहीं जा सकता। उसका कोई गोत्र या वंश नहीं है, क्योंकि वह किसी से जन्मा नहीं है। वह आँखों-कानों से रहित है, हाथों-पैरों से रहित है। वह नित्य है, सदा विद्यमान रहता है, पहले भी था, अब भी है, भविष्य में भी रहेगा। वह विभु है, वैभवशाली है। वह सर्वगत है, सर्वव्यापी है। वह अतिसूक्ष्म है। वह अ-व्यय है, ह्रासरहित है। उसी ब्रह्म को धीरजन 'भूतयोनि', अर्थात् सब उत्पन्न पदार्थों का कारण बताते हैं।[१]

ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है

भगवन्, पहले कभी आपने बताया था कि कारण तीन प्रकार के होते हैं। एक उपादान कारण होता है, जिसे समवायी कारण भी कहते हैं, जैसे मिट्टी घड़े का और तन्तु वस्त्र का उपादान या समवायी कारण है। दूसरा निमित्त कारण होता है, जैसे कुम्हार, चक्र आदि घड़े के और जुलाहा, खड्डी आदि वस्त्र के निमित्त कारण हैं। तीसरा असमवायी कारण होता है, जैसे वस्त्रनिर्माण में तन्तुओं का परस्पर संयोग, क्योंकि तन्तु विद्यमान भी हों, तो भी जब तक वे परस्पर मिलें नहीं, तब तक वस्त्र नहीं बन सकता। यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्म उत्पन्न जगत् के निर्माण में कौन-सा कारण है? ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, वत्स!

मकड़ी, ओषधि तथा केश-लोमों का दृष्टान्त

जैसे मकड़ी जाले को रचती है और फिर अपने अन्दर ले लेती है, जैसे पृथिवी पर ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुष में से सिर के केश और शरीर के रोम पैदा हो जाते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह सारा विश्व उत्पन्न होता है।[२]

शङ्का और समाधान

ये दृष्टान्त तो प्रतिकूल से प्रतीत हो रहे हैं गुरुवर! इनसे तो ऐसा लगता है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है और वह अपने अन्दर से जगत् को पैदा करता है। देखिए, पहला दृष्टान्त आपने मकड़ी का दिया है, किन्तु मकड़ी कहीं बाहर से तो जाला

---

१. यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥
—१।१।६

२. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥ —१।१।७

पूरती नहीं, अपने अन्दर से ही निकालती है। इसी प्रकार ब्रह्म भी अपने अन्दर से ही जगत् निकालता है, यह इस दृष्टान्त से सूचित होता है। दूसरा दृष्टान्त आपने दिया है पृथिवी पर ओषधियाँ उत्पन्न होने का। पृथिवी भी अपने अन्दर से ही ओषधियाँ निकालती है, ऐसे ही ब्रह्म भी अपने अन्दर से जगत् निकालता है। तीसरा दृष्टान्त आपने दिया है केश-लोमों का। जैसे पुरुष के अपने अन्दर से केश और लोम निकलते हैं, वैसे ही ब्रह्म के अपने अन्दर से जगत् निकलता है।

नहीं, मेरे प्यारे शिष्य, तुम भ्रम में पड़ रहे हो। देखो, मकड़ी उस आत्मा का नाम है, जो शरीर में रहती है। जिसमें से वह जाला निकालती है, वह उसका शरीर है, जो आत्मा से पृथक् है। ऐसे ही प्रकृति ब्रह्म का शरीर है, जिसमें आत्मा के समान वह निवास करता है। जैसे मकड़ी के शरीर में से जाला निकलता है, वैसे ही ब्रह्म के शरीरभूत प्रकृति में से यह जगत्प्रपञ्च निकलता है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। उपादान कारण तो प्रकृति है। दूसरे और तीसरे दृष्टान्त भी ऐसे ही हैं। पृथिवी के अन्दर बीज पड़े होते हैं। वे अनुकूल परिस्थिति पाकर अङ्कुरित हो जाते हैं, अतः उपादान कारण तो बीज हैं, पृथिवी-जल-सूर्यताप आदि निमित्त कारण हैं। केश-लोमों की बात भी ऐसी ही है। पुरुष तो आत्मा का नाम है। केश-लोम उस आत्मा में से नहीं निकलते; शरीर में से निकलते हैं। आत्मा उन केश-लोमों का निमित्त कारण और शरीर उपादान कारण है। ऐसे ही ब्रह्मरूप निमित्त कारण के द्वारा प्रकृतिरूप उपादान कारण में से जगत् की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति में से जगत् की उत्पत्ति कैसे?

अब यह भी बताइए गुरुवर, कि ब्रह्म के द्वारा प्रकृति में से जगत् की उत्पत्ति किस प्रक्रिया से होती है?

यह तो मैं तुम्हें स्वयं ही बतानेवाला था। जगदुत्पत्ति की बड़ी लम्बी कथा है, किन्तु आज तो संक्षेप में ही कहूँगा। फिर किसी दिन विस्तार से चर्चा होगी। देखो, "ब्रह्म सर्वज्ञ है, सब-कुछ का ज्ञाता है। जैसे घड़ा बनानेवाला कुम्हार घटोपयोगी मिट्टी, पानी, चक्र, घटनिर्माणकला आदि सब जानता है, ऐसे ही ब्रह्म जगत् की सब उपादान-सामग्री एवं जगन्निर्माणकला का पूर्ण वेत्ता है। वह

'सर्ववित्' भी है, सब-कुछ उसे प्राप्त है।[1] अतः जिस उपादान से वह जो कुछ रचना चाहता है, तुरन्त रच देता है। वह जगत् को बनाने के लिए तप करता है। तुम पूछोगे कि वह तप कैसे करता है, उसका शरीर तो है नहीं। इसका उत्तर यह है कि उसका तप शारीरिक तप नहीं है, ज्ञानमय तप है। वह ज्ञानमय तप करता है, अर्थात् निर्माणाधीन जगत् कैसा हो इसकी योजना तैयार करता है, जैसे कोई इञ्जीनियर भवननिर्माण से पूर्व उसका नक्शा बनाता है। ब्रह्म के इसी तप के परिणामस्वरूप प्रकृति जननोन्मुख होती है तथा नाम, रूप, अन्न आदि सब उत्पन्न हो जाता है।''[2]

ब्रह्म अपने तप से प्रकृति में गति उत्पन्न करता है, वह सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप प्रकृति में हलचल उत्पन्न कर देता है, जिससे प्रकृति में संकोच आरम्भ हो जाता है। उससे महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्र, मनसहित ११ इन्द्रियाँ, पञ्चभूत के क्रम से बढ़ते-बढ़ते समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है। आत्माओं को कर्मानुसार फलप्रदानार्थ मनुष्यादि प्राणियों का जन्म होता है। प्राणियों के लिए भोग्य अन्न पैदा होता है। अन्न खाने से मनुष्यों का प्राण बलवान् होता है, मनोबल बढ़ता है। तब वे सत्याचरण करते हैं। सत्याचरण से लोक, अर्थात् यश प्राप्त होते हैं तथा सत्यकर्मों से अमृत, अर्थात् मोक्ष का द्वार खुल जाता है।[3]

यह है संक्षेप से परमेश्वर-रूप निमित्त कारण द्वारा प्रकृतिरूप

---

१. सर्वं विन्दते प्राप्नोतीति सर्ववित् (विद्लृ लाभे)।

२. **यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।**
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ —१।१।९

३. **तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभि जायते।**
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ —१।१।८

उक्त दोनों श्लोकों में ब्रह्म शब्द से प्रकृति अभिप्रेत है। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों का नाम ब्रह्म है। ईश्वर परब्रह्म है, जीवात्मा अवर ब्रह्म है, प्रकृति 'एतद् ब्रह्म' है। तीनों का नाम ब्रह्म होने के विषय में द्रष्टव्य, श्वेताश्वतर उपनिषद् १।९-१२। सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् (श्लोक १२)। प्रतीकोपासना में आदित्य, मन, अन्न आदि को भी ब्रह्म कहा गया है। जो जिस क्षेत्र में महान् है, वह उस क्षेत्र का ब्रह्म कहलाता है। ब्रह्माण्ड में परमेश्वर, शरीर में जीवात्मा, अचेतनों में प्रकृति, इन्द्रियों में मन, द्युलोक में आदित्य, भोज्य-पदार्थों में अन्न महान् होने से ब्रह्म कहे गये हैं।

उपादान कारण से जगत्प्रपञ्च की उत्पत्ति की तथा उत्पत्ति के अनन्तर मनुष्यों द्वारा किये जानेवाले सत्यकर्मों से मोक्षप्राप्ति की झाँकी।

द्वितीय खण्ड

क्या कर्मकाण्ड ब्रह्मकाण्ड से ऊपर नहीं है?

शौनक को ब्रह्मचर्चा सुनने में आनन्द आ रहा था, परन्तु साथ ही यह विचार भी मन में रह-रहकर उठता था कि अध्यात्म की अपेक्षा कर्मकाण्ड को मुख्य क्यों न माना जाए, क्योंकि कर्मकाण्ड की बहुत महत्ता कर्मकाण्डियों ने बखान की है। अतः वह आचार्य अङ्गिरस् से बोला—भगवन्, क्या कर्मकाण्ड ब्रह्मकाण्ड से ऊपर नहीं है? मैंने तो यज्ञ एवं कर्मकाण्ड के विषय में बहुत कुछ सुन रखा है। क्या वह सब मिथ्या है? क्या ब्रह्मविद्या ही सब-कुछ है?

इसके उत्तर में अङ्गिरस् ऋषि ने कहना आरम्भ किया। "देखो शौनक, यह सच है कि ज्ञानीजनों ने वेदमन्त्रों में जिन यज्ञकर्मों का दर्शन किया है, वे ऋग्-यजुः-साम की त्रयी में अनेक प्रकार से वर्णित हैं और त्रेतायुग में उनका बड़ा प्रचार था। कर्मकाण्ड के प्रशंसक लोग कहते हैं कि हे सत्यान्वेषियो, तुम नियम से उनका अनुष्ठान करो; सुकृतलोक को प्राप्त करना चाहते हो तो यही तुम्हारा गन्तव्य मार्ग है।"[1] "जब यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित हो जाने पर ज्वाला लपटाने लगे, तब मध्य में दो आज्यभागाहुति तथा अन्य आहुतियाँ देवे।"[2] सामान्य अग्निहोत्र के अतिरिक्त अन्य यज्ञ भी करे। "जिसका अग्निहोत्र बिना दर्शेष्टि के, बिना पौर्णमासेष्टि के, बिना चातुर्मास्य के, बिना आग्रयण या नवसस्येष्टि के, बिना अतिथियज्ञ के, बिना यथाकाल आहुति के, बिना वैश्वदेव यज्ञ के, बिना विधिपूर्वक होम के रहता है, उसके सातों लोक नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् सात जन्मों तक उसे सुख

---

१. तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ —१।२।१

२. यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्॥ —१।२।२

नहीं मिलता है।''[१] ''यज्ञ में तत्पर कर्मकाण्डियों को अग्नि की सात लपलपाती हुई ज्वालाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। कोई काले वर्ण की है, कोई कराल रूपवाली है, कोई मन जैसी वेगवती है, कोई गहरे लाल रङ्ग की है, कोई धुमैले वर्णवाली है, कोई चिनगारियाँ छोड़नेवाली है, कोई सब रङ्ग धारण किये है।''[२] इन चमकती हुई यज्ञाग्नियों में जो यथाकाल आहुतियाँ देता हुआ होम करता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्यरश्मियों के साथ एकाकार होकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवों के अधिपति परमेश्वर का निवास है।[३] सुन्दर दीप्तिवाली आहुतियाँ मानो 'आओ, आओ' इस प्रकार प्रिय वाणी बोलती हुई सत्कारपूर्वक यजमान को सूर्यरश्मियों द्वारा उस लोक में ले जाती हैं, जो शुभ यज्ञकर्म से प्राप्त होनेवाला ब्रह्मलोक है।[४]

हे शौनक, भले ही यज्ञ एवं कर्मकाण्ड की यह सब महिमा बखानी गयी है, तो भी सोलह ऋत्विज्, यजमानपत्नी और यजमान इन अठारह यज्ञप्रेमियों द्वारा जिसमें अनेक कर्म (विधि-विधान) किये जाते हैं, वे यज्ञ उन अदृढ़ नौकाओं के समान हैं, जो बीच मझधार में धोखा दे जाती हैं। जो मूढ़ लोग इन यज्ञों को ही कल्याणकारी समझकर इनके अभिनन्दन में लगे रहते हैं, वे पुनः जरा-मरण के चक्र में पड़ते हैं।[५]

देखो प्रिय शौनक, याज्ञिक कर्मकाण्ड की राह ब्रह्मविद्या से भिन्न होने के कारण कर्मकाण्ड का दूसरा नाम 'अ-विद्या' भी है। जो लोग इस कर्मकाण्डरूप 'अ-विद्या' के अन्दर पड़े रहते हैं

---

१. यस्याग्निहोत्रम् अदर्शम् अपौर्णमासम् अचातुर्मास्यम्, अनाग्रयणम् अतिथिवर्जितं च। अहुतम् अवैश्वदेवम् अविधिना हुतम् अश्रद्धया हुतम् आसप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥ —१।२।३

२. काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
विस्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ —१।२।४

३. एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ —१।२।५

४. एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एषः वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ —१।२।६

५. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥ —१।२।७

और स्वयं को बहुत बुद्धिमान् तथा पण्डित मानते रहते हैं, वे मूढ़ हैं। वे लोग जीवन में ऐसे ही ठोकरें खाते रहते हैं, जैसे अन्धे से ले जाये जाते हुए अन्धे लोग।[1] इस कर्मकाण्डरूप ब्रह्मविद्या-भिन्न मार्ग पर पड़े हुए बालबुद्धि लोग 'हम कृतार्थ हैं' ऐसा अभिमान करते रहे हैं। क्योंकि कर्मकाण्डी लोग रागवश तत्त्व को नहीं जानते हैं, इसकारण वे स्वर्गलोक को पाकर भी अन्ततः उससे गिरकर आतुर होते हैं।[2] इष्ट नामक याग आदि को तथा वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान आदि के निर्माणरूप पूर्त को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हुए प्रमूढ़ कर्मकाण्डी लोग कर्मकाण्ड से भिन्न ज्ञानकाण्ड आदि को कल्याणकारक नहीं समझते हैं। वे लोग कर्मकाण्ड से अर्जित स्वर्गलोक के पृष्ठ पर महिमा अनुभव करने के पश्चात् पुनः इसी मनुष्यजन्म को या इससे हीनकोटि के किसी जन्म को प्राप्त करते हैं।[3] परन्तु इसके विपरीत जो शान्त विद्वान् लोग जङ्गल में ज़ाकर भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हुए तप और श्रद्धापूर्वक ब्रह्मविद्या का सेवन करते हैं, वे पापरूप धूल से पृथक् होकर सौर प्राण की योगविद्या द्वारा उस मोक्ष की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ उस अविनाशी स्वरूपवाले अमृतमय परम पुरुष परमेश्वर का सत्संग मिलता है।[4]

इसलिए हे शौनक, ब्राह्मण को चाहिए कि वह यह देखकर कि विभिन्न लोक, विभिन्न योनियाँ, विभिन्न जन्म कर्मों के आधार से मिलते हैं, कर्मकाण्ड से विरक्त हो जाए, ब्रह्मकाण्ड की ओर अग्रसर हो। जो अकृत है, स्वयंभू है, वह परब्रह्म कर्मकाण्ड से प्राप्त नहीं होता। उसे जानने एवं पाने के लिए तो समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ वैदिक विद्वान् की शरण में जाना चाहिए।[5] उस शरणागत,

---

१. अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ १।२।८

२. अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ १।२।९

३. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ १।२।१०

४. तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ १।२।११

५. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १।२।१२

प्रशान्तचित्त, शमयुक्त शिष्य को वह वैदिक विद्वान् उस ब्रह्मविद्या का तात्त्विकरूप में प्रवचन करता है, जिससे वह शिष्य सत्य, अविनाशी परमपुरुष ब्रह्म का साक्षात्कार पा लेता है।[1]

गुरु का यह उपदेश सुनकर शौनक कहने लगा। भगवन्, महात्मन्, आचार्यवर! आप ब्रह्मविद्या का माहात्म्य बतला रहे हो, किन्तु यह मेरी समझ में नहीं आ रहा कि उसके लिए कर्मकाण्ड की निन्दा करना क्यों आवश्यक है। क्या कर्मकाण्ड बुरी वस्तु है? क्या यज्ञ-याग सब ढकोसला है? क्या कर्मकाण्ड में साधक की प्रवृत्ति घातक है? आपने कर्मकाण्डियों को मूढ़ कहा है, बालबुद्धि कहा है, प्रमूढ़ कहा है। क्या कर्मकाण्डी होना पाप है? क्या कर्म-काण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों परस्पर पूरक नहीं हो सकते? क्या ऐसा नहीं है कि केवल कर्मकाण्ड के समान केवल ब्रह्मकाण्ड भी अग्राह्य हो? क्या कर्मकाण्ड की सर्वथा उपेक्षा करके केवल ब्रह्म-काण्डी होना प्रशंसनीय कहा जा सकता है? ये प्रश्न मेरे मानस को झँझोर रहे हैं। कृपया इनका समाधान करके मुझे कृतार्थ करें।

हे शौनक सुनो, आचार्यप्रवर उत्तर में कहने लगे। कर्मकाण्डी लोग जो यज्ञकर्मों की प्रशंसा करते हैं, उसे तो मैंने स्वीकारा ही है। परन्तु कर्मकाण्ड को ही सब-कुछ समझ लेना कोरी मूर्खता है। दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणि, अजमेध, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि के बाह्य आडम्बर में ही जो सर्वात्मना रत रहते हैं, इन यज्ञों के पीछे जो समाज एवं अध्यात्म की रूपरेखा है, उस पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते, जीवन में अध्यात्म की सर्वथा उपेक्षा किये रखते हैं, यज्ञ-याग से ही मोक्ष प्राप्य मानते हैं, उन्हीं के लिए मैंने मूढ़ आदि शब्दों का प्रयोग किया है। याद रखो, कर्मकाण्ड की परिणति अध्यात्म में होना ही कर्मकाण्ड की पूर्णता है। ब्रह्मविद्या से कर्मकाण्ड को अलग रखकर मनुष्य अमृतत्व-रूप लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए ब्रह्मविद्या परम श्रेयस्कर है, लक्ष्यप्राप्ति का परमोपाय है, मोक्ष की श्रेष्ठ सीढ़ी है। अतः हे वत्स, ब्रह्मविद्या को अपनाओ, ब्रह्मविद्या को जीवन का अङ्ग बनाओ।

भगवन्, आपकी बात मेरे हृदय में पैठ गयी है। कृतार्थ हूँ।

---

१. तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १।२।१३

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

पुनः ब्रह्म से जगदुत्पत्ति की कथा

गुरुवर, आपने संक्षेप में ब्रह्म से जगदुत्पत्ति की चर्चा की थी; इस विषय को क्या और अधिक स्पष्ट करने की कृपा करेंगे?

हाँ वत्स, सुनो। जैसे सुदीप्त अग्नि में से उसी जैसी सहस्रों चिनगारियाँ छूटती हैं, वैसे ही अक्षर (अविनश्वर) ब्रह्म में से विविध भावात्मक पदार्थ निकलते हैं और अन्ततः उसी में समा जाते हैं।[१]

यह तो गुरुजी, फिर आपने भ्रमात्मक-सी बात कह दी। अग्नि में से जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही यदि ब्रह्म में से जगत् के विविध पदार्थ निकलते हैं, तब तो ब्रह्म को उपादानकारण मानना पड़ेगा।

नहीं वत्स, जैसे पहले मैंने मकड़ी के जाले का, ओषधि-वनस्पतियों का, केश-लोमों का दृष्टान्त दिया था, वैसा ही यह आग में से निकलनेवाली चिनगारियों का दृष्टान्त है। अग्नि तो ताप का नाम है। चिनगारियाँ ताप में से नहीं निकलतीं, वे तो जलती लकड़ी में से निकलती हैं। ऐसे ही जगत् के भावात्मक पदार्थ ब्रह्म में से नहीं, प्रत्युत ब्रह्म की देहभूत प्रकृति में से निकलते हैं। इस प्रकार ब्रह्म सब पदार्थों का निमित्तकारण है तथा उपादान कारण प्रकृति है। यही स्वसिद्धान्त है।

मत भूलो, परमपुरुष परमेश्वर दिव्य (अलौकिक) है, अमूर्त है, अर्थात् शरीररूप मूर्त्ति से रहित है। वह सबके बाहर भी है, अन्दर भी है। वह अजन्मा है। वह 'अप्राण' है, बिना प्राण के ही जीवित रहता है। वह 'अमनाः' है, बिना मन के ही सङ्कल्प, विचार आदि मन के कार्य कर लेता है। वह शुभ्र है, स्वच्छ एवं निर्दोष है। वह अक्षर (अविनश्वर) जीवात्मा-रूप पुरुष से 'पर' है, इसी कारण 'परमपुरुष' कहलाता है।[२]

---

१. तदेतत् सत्यम्। यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ —२।१।१

२. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ —२।१।२

उसी परब्रह्मरूप निमित्तकारण से प्राण, मन एवं सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी से आकाश, वायु, ज्योति, जल एवं सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।[1]

वैसे तो परब्रह्म निराकार है, निरवयव है; फिर भी ब्रह्माण्ड में उसके अङ्गोपाङ्ग देखना चाहो तो द्युलोक मानो उसका मूर्धा है, चन्द्र-सूर्य दो नेत्र हैं, दिशाएँ कान हैं, प्रकट हुए वेद उसकी वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है, पृथिवी पैर हैं। वह परब्रह्म सब भूतों का (जड़-चेतन पदार्थों का) अन्तरात्मा है, सबमें अन्तर्यामी होकर विराजमान है।[2]

परब्रह्म आग्नेय भी है, सौम्य भी है। उसी आग्नेय परब्रह्मरूप निमित्तकारण से विराट् अग्नि पैदा होता है, सूर्य जिसकी एक समिधा के समान है। उसी सौम्य परब्रह्म से आकाश में बादल और पृथिवी पर ओषधियाँ पैदा होती हैं। वह परमेश्वर पुरुष बनकर प्रकृतिरूपा नारी में वीर्य का सेचन करता है, अर्थात् प्रसुप्त पड़ी प्रकृति के अन्दर सर्जनोन्मुख गति उत्पन्न करता है। उसी परमपुरुष से बहुत-सी प्रजाओं ने जन्म लिया है।[3]

उसी परम पुरुष से ऋचाएँ, साम और यजुः प्रकट हुए हैं। वही द्विजों के अन्दर दीक्षा के भाव प्रेरित करता है। वही याज्ञिकों के अन्दर यज्ञों, क्रतुओं और दक्षिणा के भावों को प्रेरित करता है। उसी ने संवत्सर का निर्माण किया है। वही यजमान को यज्ञार्थ प्रेरित करता है। उसी ने लोक रचे हैं, जिनमें चाँद गति करता है, सूर्य गति करता है।[4]

उसी परब्रह्मरूप निमित्तकारण से माता-पिता, आचार्य, अतिथि आदि देव, साधनाशील योगीजन, सामान्य मनुष्य, पशु, पक्षी उत्पन्न हुए हैं। उसी ने प्राण-अपान, धान-जौ आदि अन्न, तप,

---

१. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ —२।१।३

२. अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ —२।१।४

३. तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् संप्रसूताः॥ २।१।५

४. तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ —२।१।६

श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा कर्त्तव्य-विधि को सृजा है।[१]

उसी ब्रह्म से सात प्राण, सात अर्चियाँ, सात समिधाएँ और सात होम उत्पन्न हुए हैं। सात लोक (निवास-स्थान) भी, जिनमें शरीर-गुहा में रहनेवाले सात प्राण अवस्थित हैं, उसी ब्रह्म से पैदा हुए हैं।[२] [सात प्राण हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। सात अर्चियों से आशय है उक्त सात प्राणों की अपनी-अपनी शक्तियाँ, जैसे चक्षु की अर्चि दर्शन-शक्ति है। सात समिधाएँ हैं उक्त सातों प्राणों के अपने-अपने विषय, अर्थात् रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, मन्तव्य और बोद्धव्य। सात होमों से अभिप्रेत है उक्त प्राणों में उन-उनके विषयों का समर्पण, जैसे आँख में रूप का होम, अर्थात् आँख के द्वारा रूप का ज्ञान। सात लोक हैं शरीर में सातों प्राणों के निवास-स्थान; जैसे चक्षु इन्द्रिय का लोक या निवास-स्थान है चक्षु-गोलक।]

उसी ब्रह्मरूप निमित्तकारण से समुद्र उत्पन्न हुए हैं। उसी से वे सब पहाड़ पैदा हुए हैं, जिनसे सर्वविध नदियाँ प्रवाहित होती हैं। उसी से सब ओषधियाँ और रस उत्पन्न हुए हैं, जिनका भोग करके अन्तरात्मा शरीर में पञ्चभूतों के साथ अवस्थित रहता है।[३]

पुरुष नामक परब्रह्म ही विश्वव्यापी समस्त कर्म का कर्त्ता है। वह तपोमय है, परम अमृत है। उस गुहानिहित, अर्थात् गुह्य ब्रह्म को जो जान लेता है, अनुभव कर लेता है, उसकी अविद्या (अज्ञान) की गाँठ खुल जाती है।[४]

बहुत आनन्द आ रहा है गुरुजी, ब्रह्म की महिमा सुनने में। आपने अच्छी तरह समझा दिया है कि यह चराचरात्मक अखिल विश्व ब्रह्मरूप निमित्तकारण से उत्पन्न हुआ है। अब आचार्यवर, यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्म के दर्शन किस प्रकार हो सकते हैं।

---

१. तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥ —२।१।७

२. सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥ —२।१।८

३. अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ —२।१।९

४. पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ —२।१।१०

द्वितीय खण्ड

ब्रह्म-दर्शन

सुनो प्रिय शौनक, तुम्हें ब्रह्म के विषय में कुछ और सुनाता हूँ तथा तुम्हारे प्रश्न का उत्तर भी देता हूँ।

देखो, ब्रह्म बड़ी अद्भुत वस्तु है। वह प्रकट भी है, गुहा में निहित भी है। समस्त जगत् उसकी झाँकी दे रहा है, अतः वह प्रकट है, किन्तु जो उसका स्वरूप विश्व में प्रकट है, वह तो बहुत थोड़ा-सा है; उसका अधिकांश स्वरूप तो गुह्य ही है। वह महान् पदनीय (प्राप्तव्य) ब्रह्म चराचर में अन्तर्यामी है। यह चर-अचर, निमेषोन्मेष करनेवाला समस्त विश्व उसी में समर्पित है, उसी में समाया हुआ है। उसी को तुम जानो, अनुभव करो। वह सत् भी है, असत् भी है; भावात्मक भी है, अभावात्मक भी है। सद्गुणों-सत्कर्मों से युक्त होने के कारण सद्रूप या भावात्मक है; दुर्गुणों एवं दुष्कर्मों से रहित होने के कारण असद्रूप या अभावात्मक है। वह वरणीय है। वह विज्ञान से परे की वस्तु है, क्योंकि पूर्णतः उसका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। वह सब जड़-चेतन प्रजाओं में वरिष्ठ है, श्रेष्ठतम है।[१]

वह अर्चिष्मान् है, ज्योतिर्मय है। वह अणुओं से भी अणु है, सूक्ष्मों से भी सूक्ष्म है; तो भी उसमें सब लोक तथा लोकवासी निहित हैं। यह तुम्हें एक पहेली-सी लगेगी, किन्तु है यह चिर सत्य। इन्द्रियग्राह्य न होने से वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है और सब लोक एवं लोकवासी उसके शासन में स्थित होने के कारण उसके अन्दर निहित कहे गये हैं। वह अक्षर है, अविनश्वर है, उसका नाम ब्रह्म है। वह प्राणों का प्राण है, वह वाणियों की वाणी है, वह मनों का मन है; क्योंकि प्राण, वाणी, मन सब उसी से सञ्चालित होते हैं। वह सत्य है, वह अमृत है। वह वेद्धव्य है, लक्ष्यवेध करने योग्य है। हे सोम्य, उसे तुम जानो।[२]

---

१. आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत् पदम्, अत्रैतत् समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद् वरेण्यं, परं विज्ञानाद्, यद् वरिष्ठं प्रजानाम्॥ २।२।१

२. यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म, स प्राणस्तदु वाङ् मनः, तदेतत् सत्यं तदमृतं, तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ —२।२।२

क्या तुम पूछते हो उसे कैसे जानें, उसकी अनुभूति कैसे करें ? देखो, उपनिषत्प्रोक्त ब्रह्मविद्या रूप महास्त्र धनुष पकड़ लो; उस पर उपासना से तीक्ष्ण किये हुए आत्मारूप शर को चढ़ा लो। अक्षर ब्रह्म को लक्ष्य बनाओ। चित्त को ब्रह्मभाव से भावित करके, लक्ष्य पर शर को साधकर, तानकर छोड़ दो। आत्मा-रूप शर ब्रह्म से जा मिलेगा।[1]

याद रखो, प्रणव (ओम् नाम) धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है। अप्रमत्त होकर लक्ष्यवेध करो। जैसे शर लक्ष्य में घुसकर तन्मय हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा आत्मा ब्रह्मरूप लक्ष्य को वेध करके ब्रह्ममय हो जाएगा।[2]

द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सब प्राणोंसहित मन जिसमें ओत-प्रोत है, उसी एक ब्रह्म को जानो, अन्य बातें छोड़ दो। वह ब्रह्म अमृत-प्राप्ति का सेतु है, पुल है।[3]

जैसे रथ की नाभि में आरे जुड़े होते हैं, ऐसे ही सब नाड़ियाँ जिससे जुड़ी हैं, उस हृदय के अन्दर अनेक रूपों में प्रकट होनेवाला वह ब्रह्म निवास कर रहा है। उस परम आत्मा का 'ओम्' नाम से ध्यान करो। अन्धकार के पार पहुँचने के लिए वह आपका सहायक होगा, स्वस्तिप्रद होगा।[4]

सुनो, वह सर्वज्ञ है, सर्वत्र विद्यमान है। समग्र भूमण्डल में उसकी महिमा प्रख्यात है। विश्वब्रह्माण्ड-रूप दिव्य ब्रह्मपुर में सर्वोपरि वह परम आत्मा प्रतिष्ठित है। उस परब्रह्म को जानने के लिए पहले अपने आत्मा को जानना आवश्यक है, जो मनोमय है, मनःकोश से घिरा हुआ है, प्राणमय शरीर का नेता है, अन्नमय कोश के अन्दर हृदय के समीप प्रतिष्ठित है। उस अपने आत्मा को जान लेने के अनन्तर धीरजन उसे जानने में समर्थ हो जाते

---

१. धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत। आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ —२।२।३

२. प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥ —२।२।४

३. यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥ —२।२।५

४. अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ २।२।६

हैं, जो आनन्दरूप और अमृतमय ब्रह्म के रूप में भासमान है।[१]

ब्रह्म-दर्शन का फल

क्या तुम पूछते हो कि उस ब्रह्म के दर्शन हो जाने का फल क्या होता है? तो सुनो, वह ब्रह्म पर और अवर दो रूपों में विद्यमान है। वह अपने जगदतीत (पर) रूप में भी है और जगद्विशिष्ट (अवर) रूप में भी है। 'पर' रूप में 'नेति, नेति' कहकर उसका गान किया जाता है और 'अवर' रूप में सूर्य, चाँद, नदी, सरोवर, वन, पर्वत, पर्जन्य आदि में दीखनेवाली उसकी महिमा का वर्णन किया जाता है। उस 'परावर' ब्रह्म का दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय मिट जाते हैं, जीवन में जो कर्म किये होते हैं, उनमें से जिनका फल नहीं मिला होता है वे क्षीण हो जाते हैं, अर्थात् फलोन्मुख न होकर फलप्रदान से रुक जाते हैं। वे पहले मुक्ति हो लेने देते हैं; आत्मा के मुक्ति से लौटने के अनन्तर फलोन्मुख होते हैं।[२]

तुम पूछना चाहोगे कि ब्रह्म रहता कहाँ है? वैसे तो वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्वान्तर्यामी है, किन्तु उसके दर्शन, क्योंकि हृदय में होते हैं, उसकी अनुभूति, क्योंकि हृदयगुहा में होती है, इसलिए योगीजन कहते हैं कि हृदय के अन्दर विद्यमान जो हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोश है, उसमें वह रजोरहित निष्कल ब्रह्म निवास करता है। आत्मवित् लोग, जो उसे जानते हैं, यही कहते हैं कि वह शुभ्र है, शुद्ध है, ज्योतियों की ज्योति है।[३]

न उस ब्रह्म के समक्ष सूर्य की कुछ चमक होती है, न चाँद-तारों की; न ही बिजलियों की चमक होती है। फिर इस अग्नि की तो भला बात ही. क्या है! उसी के चमकने के पीछे सब-कुछ चमकता है, उसी की ज्योति से यह सब-कुछ ज्योतिष्मान् बना हुआ है।[४]

---

१. यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि, दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति॥ २।२।७

२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ —२।२।८

३. हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥ —२।२।९

४. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ —२।२।१०

यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही पूर्व दिशा में है। ब्रह्म ही पश्चिम दिशा में है। ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर दिशा में है। नीचे और ऊपर भी ब्रह्म का ही प्रसार हो रहा है। यह सारा विश्व ब्रह्म की ही झाँकी दे रहा है। ब्रह्म ही वरिष्ठ है, सर्वश्रेष्ठ है।[1]

गुरुमुख से ब्रह्म की यह महिमा सुन शौनक कृतार्थ होकर बोला—बहुत आनन्द आ रहा है भगवन्, ब्रह्म की महिमा पर मैं मुग्ध हुआ जा रहा हूँ। इच्छा होती है, आप कहते चलें और मैं सुनता चलूँ।

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

एक वृक्ष के दो सुन्दर पंछी

अभी तुम्हें और अधिक समझाना है वत्स, अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है। देखो, "दो सुन्दर पङ्खोंवाले पक्षी हैं। वे एक-दूसरे के सहयोगी हैं, सखा हैं। एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, परन्तु उनमें एक ऐसा है जो वृक्ष के स्वादु फल खा रहा है, दूसरा बिना खाये द्रष्टामात्र बना हुआ है।"[2] क्या तुम यह पहेली समझे? ये दो पक्षी जीव और ब्रह्म हैं। दोनों इस भोग्य जगत् रूप वृक्ष पर बैठे हैं। उनमें जीव जगद वृक्ष के फलों का भोग कर रहा है, ब्रह्म द्रष्टामात्र बना हुआ है।

हाँ देखो, एक ही वृक्ष पर जीव और ब्रह्म दोनों पक्षी बैठे हैं; किन्तु जीव का अपने साथी ब्रह्म की ओर ध्यान ही नहीं जाता। वह तो फल भोगने में मस्त है। परन्तु जीव जब अपने प्रिय साथी ईश को और उसकी महिमा को देख लेता है, तब वह शोक से छूट जाता है।[3] इसलिए हे शौनक, उस ईश के दर्शन करो।

ब्रह्म-दर्शन की फलश्रुति

पूर्णतः समझ लो, जब द्रष्टा जीव उस पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है "जो तेजस्वी रूपवाला है, सबका ईश है, ब्रह्माण्ड

---

१. ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ —२।२।११

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ —३।१।१

३. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ —३।१।२

का कारण है, तब विद्वान् हुआ वह पुण्य-पाप को झाड़कर निरञ्जन (निर्लेप) बनकर उस पुरुष से परम साम्य प्राप्त कर लेता है।''[1]

फलश्रुति पर शङ्का-समाधान

यह सुनते ही शौनक पूछ बैठा—गुरुवर, ब्रह्म का दर्शन कर लेने के उपरान्त भी तो पुण्य-पाप बचे रह सकते हैं, जिनका फल-भोग जीवात्मा मुक्ति की अवधि समाप्त होने के पश्चात् पुनः शरीर मिलने पर करता है। तब आप यह कैसे कह रहे हैं कि ब्रह्म-साक्षात्कार से उसके पुण्य-पाप झड़ जाते हैं?

तुम ठीक कहते हो वत्स, ब्रह्म-दर्शन हो जाने पर सब पुण्य-पाप समाप्त नहीं हो जाते, किन्तु दब जाते हैं, अर्थात् मुक्ति में बाधक न होकर अपनी फलोन्मुखता को मुक्ति की सुदीर्घ अवधि तक दबाये रखते हैं। पुण्य-पापों के झड़ने से मेरा यही आशय है।

दूसरी बात यह भी पूछनी है गुरुदेव, कि ब्रह्म-दर्शन के अनन्तर यदि जीव ब्रह्म से परम साम्य पा लेता है, तब तो वह ब्रह्म ही हो जाएगा। इससे तो जितने भी जीव ब्रह्मद्रष्टा होंगे, वे सब ब्रह्म बनते जाएँगे। तब तो ब्रह्म संख्या में अनेक हो जाएँगे और उत्तरोत्तर ब्रह्म की संख्याएँ बढ़ती चलेंगी।

नहीं शौनक, परम साम्य प्राप्त करने से मेरा यह आशय नहीं है कि जीव बिल्कुल ब्रह्मसदृश हो जाता है। साम्य तीन प्रकार के होते हैं—किंचित् साम्य, परम साम्य और सर्वात्मना साम्य। परम साम्य से अतिशय साम्य की अवस्था सूचित होती है, सर्वात्मना साम्य की नहीं। ब्रह्म-दर्शन के उपरान्त जीव में ब्रह्म के समान न्यायकारिता, दयालुता, धर्मात्मता, परोपकारिता आदि के गुण तो आ जाते हैं, परन्तु वह परमेश्वर नहीं हो जाता।

ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ कौन?

शौनक की शङ्का का निवारण करने के उपरान्त आचार्य आगे कहते हैं—''ब्रह्म प्राणवान् है, प्राणों का प्राण है, जो सब भूतों से भासमान हो रहा है। जो उसे जानता है, वही सच्चा विद्वान् है, बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला मनुष्य विद्वान् नहीं होता। जो परमात्मा में क्रीडा करता है, उसके साथ खेलता है, जो परमात्मा से प्रेम करता है, जो क्रियावान् है, वही ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ

---

१. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ —३।१।३

कहलाता है,[१] अतः तुम भी ब्रह्म के साथ खेलो, ब्रह्म से प्रेम करो। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि ब्रह्मनिष्ठ होकर अकर्मण्य हो जाओ। कर्म तो जब तक जीवन है, करने ही होंगे।''

ब्रह्म को कैसे प्राप्त करें?

क्या तुम पूछते हो कि ब्रह्म को हम कैसे प्राप्त करें? सुनो परम आत्मा नित्य सत्य से, तप से, सम्यग् ज्ञान से, ब्रह्मचर्य से प्राप्त किया जा सकता है। यतिजन दोषरहित होकर जिसका दर्शन-लाभ करते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्र ब्रह्म शरीर के अन्दर ही बैठा हुआ है, उसे पाने के लिए कहीं बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है।[२]

क्या सत्य की महिमा के विषय में तुम्हें कुछ शङ्का हो रही है? याद रखो—''सत्य की ही जय होती है, अनृत की नहीं। देवयान पथ सत्य से ही फैला हुआ है, जिस पर चलकर आप्तकाम ऋषि लोग वहाँ जा पहुँचते हैं, जहाँ सत्य का परम निधान वह ब्रह्म विद्यमान है।''[३]

ब्रह्म का स्वरूप

क्या तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें ब्रह्म का स्वरूप बतलाऊँ? वह भी बतलाता हूँ, सुनो। ''वह महान् से महान् है, दिव्य है, अचिन्त्य रूपवाला है, साथ ही सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर भासमान है। वह दूर से दूर है, तो भी सदा समीप है। जो देखनेवाले हैं, उन्हें यहीं हृदयगुहा में निहित दीख जाता है।''[४]

शायद तुम कहो कि यह परस्पर विरोधी गुणोंवाला ब्रह्म तो समझ से बाहर है। वह महान् से महान् होता हुआ भी सूक्ष्म से सूक्ष्म कैसे हो सकता है? दूर होता हुआ भी समीप कैसे हो सकता है? इसका समाधान भी करता हूँ। वह सर्वव्यापक होने

---

१. प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति, विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ —३।१।४

२. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ —३।१।५

३. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥ —३।१।६

४. बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ —३।१।७

से महान् से महान् है, पर स्थूल वस्तुओं के विपरीत आँख से न दीखने के कारण तथा अन्य इन्द्रियों से भी ग्राह्य न होने के कारण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कहा गया है। इसी प्रकार वस्तुतः वह दूर-समीप सर्वत्र है, किन्तु दूरस्थ वस्तु के समान इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण उसे दूर से दूर कहा गया है।

हे शौनक, सुनो, न वह ब्रह्म आँख से दीखता है, न वाणी से उसका वर्णन हो सकता है, न अन्य इन्द्रियों से उसका ग्रहण हो सकता है। न कोई तप से उसे गृहीत कर सकता है, न कर्म से गृहीत कर सकता है। इसके विपरीत जब मनुष्य का अन्तरात्मा ज्ञान के प्रसाद से निर्मल हो जाता है, तब वह उस निष्कल ब्रह्म का ध्यान करता हुआ उसके दर्शन में समर्थ होता है।[१]

आत्म-दर्शन

परन्तु हे वत्स, परमात्मा के दर्शन से पूर्व मनुष्य को अपने आत्मा का दर्शन कर लेना आवश्यक है। "जो आत्मा अणु परिमाणवाला है, जिसमें मुख्य प्राण स्वयं को प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इन पाँच में विभक्त करके प्रविष्ट है, उस आत्मा को विशुद्ध चित्त से जाना जाता है। प्रजाओं का सम्पूर्ण चित्त प्राणों से ओत-प्रोत है, उस चित्त के विशुद्ध हो जाने पर आत्मा वैभवशाली हो सकता है।"[२]

उस वैभवशाली आत्मा में यह शक्ति आ जाती है कि जिस-जिस लोक का, अर्थात् जिस-जिस स्थिति का वह मन से चिन्तन करता है और विशुद्ध अन्तःकरणवाला होकर जो-जो कामनाएँ करता है, उस-उस लोक, अर्थात् स्थिति को वह प्राप्त कर लेता है और उन-उन कामनाओं को पूर्ण कर लेता है।[३]

क्या तुम सन्तुष्ट हुए शौनक, क्या अभी कुछ और भी सुनना चाहते हो?

---

१. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ —३।१।८

२. एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ —३।१।९

३. यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥ —३।१।१०

हाँ ब्रह्मन्, आपने इस मानव आत्मा की चर्चा कर दी है, तो मैं इसके विषय में कुछ और अधिक सुनना चाहता हूँ। ब्रह्म को जाननेवाला तो यह मानव आत्मा ही है। उसकी शक्ति के विषय में तथा ब्रह्म से उसके सम्बन्ध के विषय में कुछ अधिक बताइए गुरुदेव!

द्वितीय खण्ड

प्रभु-मिलन की राह

ठीक है, सुनो शौनक! विशुद्ध चित्त के द्वारा वैभवशाली बना हुआ मनुष्य का आत्मा इस योग्य हो जाता है कि सबके आश्रयभूत उस ब्रह्म को जान सके, जिसमें निहित हुआ यह सकल शुभ्र विश्व भासित हो रहा है। जो निष्कामभाव से उस परम पुरुष ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे धीरजन इस चमक-दमकवाले जगत् से ऊपर उठ जाते हैं।[1]

जो मनुष्य काम्य जन्मों को सर्वोपरि मानता हुआ उन्हीं की कामना करता रहता है, वह उन कामनाओं के बल से उन्हीं काम्य जन्मों को बार-बार प्राप्त करता रहता है। परन्तु जो कामनाओं को जीतकर स्वयं को कृतार्थ मानता है, उसकी सब कामनाएँ इसी जन्म में समाप्त हो जाती हैं। अतः उनके कारण उसे पुनः-पुनः जन्म-मरण के बन्धन में नहीं पड़ना पड़ता।[2]

क्या तुम पूछते हो कि सांसारिक कामनाएँ समाप्त होने के बाद प्रभु-मिलन कैसे होता है? देखो, यह परम आत्मा न प्रवचन से प्राप्त हो सकता है, न मेधा से, न ही बहुत शास्त्रश्रवण से। जिसे यह स्वयं वर लेता है, उसी को प्राप्त होता है। उसके सम्मुख यह स्वयं अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है।[3] इसलिए प्रभुकृपा पाने का यत्न करो। जब तुम स्वयं को पूर्णतः प्रभु के अर्पित कर दोगे, तब वह स्वयं अपनी कृपा की कोर तुम्हारी ओर

---

१. स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति कामाः॥ —३।२।१

२. कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २॥

३. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ ३॥

फेरेगा।

साथ ही यह भी ध्यान में रखो कि यह परम आत्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होता, न प्रमाद करने से प्राप्त होता है, न ही लिंगरहित (लक्ष्यहीन) तप करने से मिलता है। जो विद्वान् इन उपायों से, अर्थात् बलहीनता, प्रमाद और लिंगरहित तप से उसे प्राप्त करने का यत्न करता है, उससे दूर हटकर वह परम आत्मा अपने ब्रह्मधाम में प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसे उसका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।[1]

जो उस परम आत्मा को पा लेते हैं, वे ज्ञान से तृप्त, वीतराग, प्रशान्तचित्त ऋषिकोटि के लोग कृतार्थ हो जाते हैं। वे धीरजन उस सर्वान्तर्यामी परमात्मा को सर्वत्र पाकर उसके साथ अपने आत्मा को संयुक्त करके उस सर्वशक्तिमान् में प्रविष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उसके साथ अन्तरङ्गता स्थापित कर लेते हैं।[2]

मोक्ष का स्वरूप और उसकी अवधि

वेदान्त के विज्ञान से जिनके सम्मुख ब्रह्मरूप अर्थ सुनिश्चित हो चुका है, संन्यास के योग से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, ऐसे यतिजन मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्मलोक में वास करते हैं, वे परान्तकाल की अवधि तक वहाँ रहकर तदनन्तर वहाँ से छूटते हैं और फलभोग से बचे हुए कर्मों के अनुसार इहलोक में जन्म लेते हैं।[3]

परान्तकाल की बात सुनकर शौनक बोला—गुरुवर, मुक्ति की अवधि आपने परान्तकाल बतलायी है। यह परान्तकाल क्या है, इसमें कितने वर्ष होते हैं, यह समझाने की कृपा करें।

देखो, तेंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी होती है, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र। ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना। ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष। ऐसे शत वर्षों का एक परान्तकाल होता है। गणना करने पर यह काल

---

१. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४॥

२. समाप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५॥

३. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष बनता है। इतनी लम्बी अवधि तक मुक्तात्मा मुक्ति में रहता है। इस अवधि के उपरान्त वह पुनर्जन्म प्राप्त करता है।

अब क्या यह बताने की कृपा करेंगे भगवन्, कि सांसारिक अवस्था में जीव के साथ जो कलाएँ एवं प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि विभिन्न देव होते हैं, वे मुक्ति में रहते हैं या नहीं?

देखो शौनक, जीवित शरीर की आधारभूत पन्द्रहों कलाएँ मुक्ति में समाप्त हो जाती हैं, जीवमात्र अवशिष्ट रहता है। चक्षु, श्रोत्र आदि सब देव भी आदित्य, दिशा आदि प्रतिदेवताओं में लीन हो जाते हैं। भोग से बचे हुए कर्म भी विरत हो जाते हैं, अर्थात् फलोन्मुख नहीं होते। विज्ञानमय आत्मा, अर्थात् बुद्धि भी कर्म करना बन्द कर देती है। ये सभी वस्तुएँ अविनाशी जीवात्मा के अन्दर एकाकार हो जाती हैं। केवल जीवात्मा ही अवशिष्ट रहता है।[1]

जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्र में पहुँचकर अपने गङ्गा, यमुना आदि नामों को और अपने-अपने रूपों को छोड़कर समुद्र के साथ एकाकार हो जाती हैं, वैसे ही परमेश्वर का ज्ञाता विद्वान् मुक्ति अवस्था में अपने देवदत्त-यज्ञदत्त आदि नामों को और शरीर की ऊँचाई, नीचाई, श्याम वर्ण, गौर वर्ण आदि रूपों को छोड़कर परात्पर जो दिव्य पुरुष (जीवात्मा) है, उसी के रूप में रहता है।[2]

हे शौनक, जो मनुष्य परम ब्रह्म को जान लेता है, अनुभव कर लेता है, उसका साक्षात्कार कर लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में भी कोई अब्रह्मवित् नहीं रहता। वह शोक को तर जाता है, पाप को तर जाता है, उसके मन की सब गाँठें खुल जाती हैं। वह अमर हो जाता है।[3]

यह तो गुरुवर, आपने बड़ी चौंकानेवाली बात कह दी कि जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। जब मुक्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है, तब मुक्ति से उसके लौटने की बात

---

१. गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ ७॥

२. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

३. यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ ९॥

का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ब्रह्म बनकर तो उसकी अपनी सत्ता ही समाप्त हो जाएगी। इस रहस्य को खोलने की कृपा करें भगवन्!

अच्छा शौनक, यदि तुमसे कोई कहे कि राजा जनक महर्षि याज्ञवल्क्य से ज्ञान प्राप्त करके याज्ञवल्क्य ही हो गये, तो तुम इसका क्या अभिप्राय समझोगे? इसका आशय तो सब यही समझेंगे गुरुवर, कि जनक याज्ञवल्क्य के समान पण्डित हो गये।

तो ऐसा ही आशय तुम तब क्यों नहीं लेते हो, जब कहा जाता है कि ब्रह्मवित् मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है? ब्रह्मवित् मनुष्य ब्रह्म के समान सहृदय और सत्य, न्याय, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों से युक्त हो जाता है। भले ही वह ब्रह्म के समान सृष्ट्युत्पत्ति, स्थिति, संहार आदि न कर सकता हो, पाप-पुण्यों का फल प्रदान न कर सकता हो, तो भी बहुत-सी बातों में समता के कारण वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्मज्ञ को जो मैंने ब्रह्म कहा है, वह दार्शनिक दृष्टि से नहीं, अपितु भाषा के मुहावरे की दृष्टि से कहा है। ब्रह्मज्ञ मुक्त पुरुष सामान्यजनों से इतना विलक्षण तथा ब्रह्म के इतने निकट हो जाता है, मानो वह ब्रह्म ही हो गया।

हे प्रिय शौनक, तुमने मुझसे उस तत्त्व को जानना चाहा था, जिसके जान लेने से सब-कुछ विज्ञात हो जाता है। इसका उत्तर मैंने तुम्हें यह दिया है कि अपरा और परा दोनों विद्याओं को जान लेने के पश्चात् कुछ अविज्ञात शेष नहीं रहता। इन दोनों विद्याओं में भी परा विद्या या ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ है, क्योंकि रचित वस्तुओं की अपेक्षा रचनेवाले का महत्त्व अधिक होता है। जिसने रचनेवाले को पूर्णतः जान लिया, वह उस रचयिता की रची वस्तुओं से अनभिज्ञ नहीं रहता। कोई कुम्भकार या स्वर्णकार का पूर्ण ज्ञाता तभी कहला सकता है, जब उनके द्वारा रचे गये घट आदि एवं आभूषण आदि को भी जान ले। इस प्रकार ब्रह्मरूप निमित्तकारण के ज्ञान में उपादानकारण प्रकृति एवं उससे बने समस्त पदार्थों का ज्ञान भी सन्निविष्ट है। अतः ब्रह्म को जान लेने से सभी वस्तुएँ विज्ञात हो जाती हैं।

ब्रह्मविद्या के पात्र

परन्तु ब्रह्मविद्या का उपदेश पात्र-अपात्र का विचार करके ही दिया जाता है। निष्क्रिय, अश्रद्धालु तथा ब्रह्म के प्रति रुचि न

रखनेवाला मनुष्य ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं होता। उसे ब्रह्मज्ञान देने का प्रयास वैसा ही होगा, जैसे "भैंस के आगे बीन बजाओ, भैंस खड़ी पगुराय।"

इसलिए जो क्रियाशील हैं, जो वेदाध्येता हैं, जो ब्रह्म में निष्ठावान् हैं, जो श्रद्धालु होकर, समिधा बनकर गुरु में स्वयं को होम देनेवाले हैं और जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत धारण किया है, अर्थात् जो बुद्धि-सम्मत बातों को ही मानने का व्रत ले चुके हैं, उन्हीं शिष्यों के सम्मुख ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिए।[१]

उपसंहार

हे प्यारे शौनक, विधिवत् उपसन्न होकर विद्याध्ययन के लिए शरण में आये हुए तुम्हें मैंने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है, क्योंकि तुम व्रतनिष्ठ होकर मेरे पास आये थे। "जिसने व्रत ग्रहण नहीं किया, वह ब्रह्मविद्या का अध्ययन नहीं कर सकता।"[२] इस मेरे द्वारा दिये गये ज्ञान का मनन करो, तुम्हें प्रभु के दर्शन होंगे।

भगवन् कृतज्ञ हूँ, आपके चरणों में नत हूँ। आपकी कृपा से मैं कभी अनृण नहीं हो सकता। गुरुवर, आपको नमस्कार है। हे परम ऋषि, आपको नमस्कार है।

नमः परमऋषिभ्यो

नमः परमऋषिभ्यः।

---

१. क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठा स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

२. नैतदचीर्णव्रतोऽधीते॥ ११॥

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शौनक ने अङ्गिरस् ऋषि से क्या प्रश्न किया? ऋषि का उत्तर संक्षेप में कहिए।

२. अपरा और परा विद्याओं पर प्रकाश डालिए। क्या परा विद्या वेदों में वर्णित नहीं हुई है?

३. परमेश्वर द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में मकड़ी, ओषधी, केश-लोम तथा विस्फुलिंग के दृष्टान्तों से क्या सूचित होता है?

४. प्रकृति में से जगत् की उत्पत्ति किस प्रक्रिया से होती है?

५. कर्मकाण्ड के विषय में मुण्डक उपनिषद् क्या कहती है?

६. मुण्डक उपनिषद् के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप वर्णित कीजिए।

७. ब्रह्म का दर्शन कैसे हो सकता है?

८. "प्रणव धनुष है, आत्मा शर है, ब्रह्म लक्ष्य है, अप्रमित्त होकर लक्ष्यवेध करो" इस रूपक को स्पष्ट कीजिए।

९. ब्रह्म के दर्शन का फल बताइये।

१०. उपनिषद् में वर्णित दो सुन्दर पङ्खोंवाले पक्षियों की बात स्पष्ट कीजिए।

११. ब्रह्म से परम साम्य कैसे प्राप्त होता है? परम साम्य का क्या तात्पर्य है?

१२. ब्रह्म में परस्पर विरोधी गुण कौन-से हैं? उनकी सङ्गति लगाइये।

१३. मुण्डक उपनिषद् में जीवात्मा के विषय में क्या कहा गया है?

१४. सांसारिक कामनाएँ समाप्त होने पर प्रभु-मिलन कैसे होता है?

१५. मुक्ति की अवधि क्या है? परान्तकाल किसे कहते हैं?

१६. मुक्ति में जीव की कलाएँ रहती हैं या नहीं?

१७. 'ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है' इसका तात्पर्य समझाइये।

१८. ब्रह्म को जान लेने से सब-कुछ विज्ञात कैसे हो जाता है?

१९. व्रतग्रहण का महत्त्व क्या है?

२०. सच्चा ब्रह्मवित् कौन है?

ओ३म्

६. माण्डूक्योपनिषद्

ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः। व्यशेम देवहितं यदायुः॥

माण्डूक्य उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें ओङ्कार की व्याख्या की गयी है।

माण्डूक्य ऋषि तपोवन के अपने आश्रम में शिष्यों को पढ़ाया करते थे। अध्यात्म विद्या की साधना चल रही थी। एक दिन शिष्य कहने लगे—भगवन्, आपने अनेक बार कहा है कि 'ओम्' परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है, आज हम इस 'ओम्' की व्याख्या सुनना चाहते हैं।

'ओम्' अक्षर है[1]

देखो, 'ओम्' में स्वर वर्ण एक ही होने से यह एक 'अक्षर' है, जो परमेश्वर का वाचक है। परमेश्वर इस 'ओम्' अक्षर का वाच्यार्थ है। वाच्य परमेश्वर भी 'अक्षर' कहाता है, क्योंकि वह अविनश्वर है। जो क्षरे नहीं, अर्थात् कभी विनष्ट न हो, उस परमेश्वर को 'अक्षर' कहते हैं—**न क्षरतीति अक्षरम्।** इस प्रकार वाचक 'ओम्' और वाच्य परमेश्वर दोनों ही अक्षर कहाते हैं।

सारा ब्रह्माण्ड उसी का व्याख्यान है[2]

सकल ब्रह्माण्ड उसी अक्षर परमेश्वर का व्याख्यानभूत है, जैसे अनेकानेक सुन्दर कलाकृतियाँ किसी कलाकार की व्याख्या होती हैं। जैसे मानवी कलाकृतियों में मानव कलाकार बोल रहा होता है, ऐसे ही ब्रह्माण्ड की इस कलाकृति में ओङ्कार बैठा बोल रहा है। इसे इस रूप में भी कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड की कलाकृति ओङ्कार की चामत्कारिक कला का वर्णन कर रही है।

भूत, वर्त्तमान, भविष्य सब ओङ्कार है[3]

शिष्यो, भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सब-कुछ ओङ्कार ही है। क्या तुम समझे?

---

१. ओमित्येतद् अक्षरम्॥ १॥

२. इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। वही

३. भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वम् ओङ्कार एव। वही

आचार्यवर, आपकी यह भाषा तो हमारी समझ में नहीं आ रही है। जो वस्तुएँ भूतकाल में हो चुकीं, जो वर्त्तमानकाल में हैं और भविष्यत् काल में होंगी, वे सब ओङ्कार ही हैं, इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि वे सब परमात्मा हैं। भूतकाल में जो हमारे पूर्वज हो चुके हैं, क्या वे परमात्मा थे? भूतकाल में जो सिंह, व्याघ्र, चीते, मृग, सर्प, पक्षी आदि प्राणी हो चुके हैं, क्या वे सब परमात्मा थे? भूतकाल में जो पहाड़, नदियाँ, समुद्र, बादल आदि थे, क्या वे सब परमात्मा थे? क्या वर्त्तमानकाल में जो राजा, प्रजा, सेनापति, सैनिक, मूर्त्तिकार, स्वर्णकार, कुम्भकार, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि विद्यमान हैं, क्या वे सब परमात्मा हैं? आगे भविष्य में जो राज्य होंगे, राजपुरुष होंगे, प्रजाजन होंगे, पशु, पक्षी आदि होंगे, वे सब भी क्या परमात्मा होंगे? यह आप कैसी बात कर रहे हैं, गुरुवर!

आओ पुत्रो, बड़ी सुन्दर-सुन्दर वस्तुओं की एक प्रदर्शनी लगी है। चलो, उसे देखने चलते हैं। ये रहस्य की बातें तो फिर भी होती रहेंगी। सभी शिष्य बड़ी प्रसन्नता से तैयार हो जाते हैं और गुरुजी के साथ प्रदर्शनी पहुँच जाते हैं। शिष्य वहाँ रखी मूर्त्तियों को देखकर आह्लादित हो उठते हैं। आचार्य जी, देखिए, ये ब्रह्मा हैं, ये विष्णु हैं, ये महादेव हैं, ये गोतम हैं, ये कपिल हैं, ये कणाद हैं। सब प्रसन्न मुद्रा में वर्णन करते नहीं अघाते हैं।

आचार्य तुरन्त उनकी बात को पकड़ लेते हैं। वे कहते हैं— ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, गोतम, कपिल, कणाद ये सब तो चेतन ऋषि थे, ये जड़ मूर्त्तियाँ ब्रह्मा विष्णु आदि कैसे हो सकती हैं? जैसे तुम इन जड़ मूर्त्तियों को ब्रह्मा, विष्णु आदि कह रहे हो, वैसे ही भूत, वर्त्तमान, भविष्य सबको परमात्मा कहा जा सकता है या नहीं?

नहीं गुरुजी, हमारी शङ्का अब भी निवृत्त नहीं हुई है। ब्रह्मा, विष्णु आदि तो शरीरधारी थे, इसलिए उनकी मूर्त्तियाँ बन सकती हैं और सादृश्य के आधार पर उन मूर्त्तियों को हम ब्रह्मा, विष्णु आदि भी कह सकते हैं। परन्तु परमात्मा तो निराकार है; भूत, वर्त्तमान, भविष्य की सब वस्तुएँ उसकी मूर्त्तियाँ नहीं हैं, उनमें परमात्मा का कोई सादृश्य नहीं है, जिसके आधार पर भूत, वर्त्तमान, भविष्य के पदार्थों को परमात्मा कहा जा सके।

साधुवाद शिष्यो, मैं तुमसे ऐसे ही सूक्ष्म विवेचन की आशा करता था। किन्तु अभी तो तुमने प्रदर्शनी का थोड़ा-सा ही भाग देखा है। चलो, आगे उधर भी कुछ कलाकृतियाँ रखी हैं, उन्हें भी देखें। शिष्य गुरुजी के साथ प्रदर्शनी के दूसरे हिस्से में जा पहुँचते हैं। वहाँ मिट्टी के बने कई प्रकार के सुन्दर बर्तन रखे हैं, वहीं तख्ती पर लिखा है—'कुम्हार'। एक फुलवारी लगी है, जिसमें तरह-तरह के छोटे-बड़े रङ्ग-बिरङ्गे पुष्प खिले हैं, तख्ती पर लिखा है—'माली'। कुछ लोहे के बने अद्भुत शस्त्रास्त्र रखे हैं, तख्ती पर लिखा है—'लुहार'। कुछ हीरे-मोती जड़े स्वर्णाभूषण हैं, तख्ती पर लिखा है—'सुनार'। शिष्य मनोमुग्ध होकर उन्हें देखते हैं और चिल्ला उठते हैं—देखिए आचार्यवर, कुम्हार, माली, लुहार, सुनार। पुत्रो, ये तो कुम्हार, माली, लुहार, सुनार की बनायी हुई कलाकृतियाँ हैं, इन्हें तुम कुम्हार, माली, लुहार, सुनार कैसे कह रहे हो? जब इन कलाकृतियों को तुम कुम्हार, माली आदि कह सकते हो, तो परमात्मा की बनायी भूत, वर्त्तमान और भविष्य की कलाकृतियों को परमात्मा क्यों नहीं कह सकते?

देखो, काव्यशास्त्र में एक लक्षणावृत्ति होती है, जिसके आधार पर परमात्मा द्वारा रची गयी, परमात्मा द्वारा व्याप्य एवं परमात्मा द्वारा अधिष्ठित भूत, वर्त्तमान, भविष्य की वस्तुओं को परमात्मा कहा जा सकता है। भूत, वर्त्तमान, भविष्य की वस्तुएँ परमात्मा की कृतियाँ हैं, उन सबमें परमात्मा व्याप्त है, वे सब परमात्मा द्वारा अधिष्ठित हैं, उन सबमें परमात्मा की गरिमा दिखायी देती है, अतः मानो वे परमात्मा ही हैं। लोक में भी मनुरचित स्मृति को पढ़ने की प्रेरणा करनी होती है, तब कहते हैं 'मनु को पढ़ो'। आटा जिनमें व्याप्त है, उन गेहुओं को पिसाने के लिए कहना होता है, तब कहते हैं 'आटा पिसा लाओ'। मचानों पर स्थित पुरुष चिल्ला रहे होते हैं, तब कहते हैं 'मचानें चिल्ला रही हैं', क्योंकि मचानें पुरुषों से अधिष्ठित होती हैं।

त्रिकालातीत भी ओङ्कार है[1]

"शिष्यो, और जो कुछ त्रिकालातीत है, वह भी ओङ्कार ही है।" यह त्रिकालातीत क्या वस्तु होती है भगवन्! जो कोई भी वस्तु होगी या घटना होगी, वह या भूतकाल में हुई होगी या

१. यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव। वही

वर्त्तमान में होगी या भविष्य में होगी। इनसे अतिरिक्त इन तीनों कालों से भिन्न कोई स्थिति कैसे हो सकती है?

देखो शिष्यो, ये तीन काल तो हमारी दृष्टि से होते हैं। हम जिस काल में रह रहे हैं, वह हमारे लिए वर्त्तमान है। जो हमसे पहले हो चुका है, वह भूत है। जो आगे होगा वह भविष्य है। किन्तु परमात्मा तो हर काल में रहता है, अतः उसके लिए भूत और भविष्य कुछ नहीं है। तो गुरुवर, परमात्मा के लिए सारा काल क्या वर्त्तमान नहीं माना जाएगा? नहीं शिष्यो, वर्त्तमान नाम भी भूत और भविष्य के सापेक्ष है। जब परमात्मा के लिए भूत और भविष्य नहीं रहा, तब वर्त्तमान भी नहीं रहता। अतः परमात्मा की दृष्टि से सब-कुछ त्रिकालातीत है। वह त्रिकालातीत भी ओङ्कार है, अर्थात् ओङ्कार द्वारा कृत है, ओङ्कार द्वारा व्याप्य है, ओङ्कार से अधिष्ठित है, ओङ्कार की ही महिमा को बतानेवाला है। अच्छा, अब आगे सुनो।

यह सब ब्रह्म है[1]

शिष्यो, जब तुमने यह समझ लिया कि जो भूत, वर्त्तमान, भविष्य एवं त्रिकालातीत है, वह ओङ्कार, परमात्मा या ब्रह्म है, तो अब यदि मैं यह कहूँ कि 'यह जो कुछ भी जगत् में दृष्टिगोचर होता है, वह सब ब्रह्म है', तो तुम्हें इसे समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए। सब-कुछ ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म से रचित है, ब्रह्म से व्याप्य है, ब्रह्म से अधिष्ठित है, ब्रह्म से सञ्चालित है, ब्रह्म से अनुप्राणित है, ब्रह्म की दी हुई शक्ति से शक्तिमान् है एवं ब्रह्म की महिमा से महिमावान् है।

गुरुजी, कुछ वस्तुएँ संसार में अनादि-अनन्त भी तो हैं, जिन्हें परमात्मा ने नहीं रचा है। जैसे असंख्यों जीवात्मा नित्य होने से ब्रह्मरचित नहीं हैं; पृथिवी, जल, तेज, वायु के असंख्यों परमाणु भी नित्य होने से ब्रह्मरचित नहीं हैं। सांख्य के मत में 'प्रकृति' भी नित्य होने से ब्रह्मरचित नहीं है। अतः जब हम यह कहेंगे कि 'सब-कुछ ब्रह्म है', तब जीवात्मा आदि नित्य वस्तुएँ तो 'सब-कुछ' में नहीं आयेंगी न?

शिष्यो, तुम्हारी शङ्का तो ठीक है, पर यह कहना ठीक नहीं

---

१. सर्वं ह्येतद् ब्रह्म॥ २॥

है कि 'सब-कुछ' में जीवात्मा आदि नित्य पदार्थ नहीं आयेंगे। कोई पदार्थ ब्रह्मरचित होने से ही ब्रह्म नहीं कहलाता, अपितु जैसा अभी ऊपर बता चुके हैं ब्रह्म से प्याप्य, ब्रह्म से अधिष्ठित होने आदि से भी ब्रह्म कहलाता है। यह सब लक्षणावृत्ति की महिमा है।

पुत्रो, बात कुछ जटिल हो जाएगी। फिर भी लक्षणा के सम्बन्ध में तुम्हें कुछ अधिक जानकारी दे देना उपयोगी होगा। देखो, शब्दशास्त्र में तीन वृत्तियाँ होती हैं—अभिधावृत्ति, लक्षणावृत्ति और व्यञ्जनावृत्ति। इन तीन वृत्तियों से बोध्य अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं—क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ। जब मुख्यार्थबाध होता है, अर्थात् शब्द का अभिधावृत्ति-बोध्य जो वाच्यार्थ निकल रहा होता है, वह असंगत प्रतीत होता है, तब लक्षणावृत्ति प्रवृत्त होकर लक्ष्यार्थ को देती है। लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में कुछ-न-कुछ सम्बद्ध होता है, अन्यथा किसी भी वाच्यार्थ का कोई भी लक्ष्यार्थ हो जाया करे। यहाँ हम लक्ष्यार्थ के कुछ उदाहरण देते हैं।

किसी मनुष्य को कहते हैं—'वह तो निरा बैल है'। बैल का वाच्यार्थ तो है 'बैल पशु', किन्तु वह तो मनुष्य है, बैल पशु तो है नहीं। अतः मुख्यार्थ का बाध होकर लक्षणा ही प्रवृत्त होती है। लक्ष्यार्थ निकलता है 'मूर्ख'। यहाँ सादृश्य सम्बन्ध है, अर्थात् वह मनुष्य बैल के सदृश मूर्ख है। भाले-धारियों को भवन में प्रविष्ट होता देखकर कोई कहता है 'भाले प्रवेश कर रहे हैं—**कुन्ताः प्रविशन्ति**'। 'कुन्ताः' का वाच्यार्थ है 'भाले', लक्ष्यार्थ है 'भालेधारी मनुष्य'। यहाँ सहचार सम्बन्ध से लक्षणा है। वृक्षस्थ पक्षियों को कूजन करते देखकर कोई कहता है '**वृक्षाः कूजन्ति**'। यहाँ तात्स्थ्य सम्बन्ध से लक्षणा है। बढ़ई के काम में कुशल किसी ब्राह्मण के लिए जब हम कहते हैं 'यह ब्राह्मण बढ़ई है—**तक्षा अयं ब्राह्मणः**', तब तात्कर्म्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है। जब कहा जाता है 'गङ्गा में गौएँ चर रही हैं—**गङ्गायां गावश्चरन्ति**' तब गङ्गा का लक्ष्यार्थ होता है गङ्गातट। यहाँ सामीप्य सम्बन्ध से लक्षणा होती है। 'घृत आयु है—**आयुर्घृतम्**', में आयु का लक्ष्यार्थ होता है आयुष्यकारक। एवं यहाँ कार्यकारण सम्बन्ध है। इस प्रकार लक्षणा का प्रयोग लोक में बहुतायत से पाया जाता है। वही

लक्षणा '**सर्वं ह्येतद् ब्रह्म**' आदि शास्त्र वचनों में भी प्रवृत होती है।

यह आत्मा ब्रह्म है[१]

शिष्यो, यदि तुमने यह हृदयङ्गम कर लिया है कि 'यह सब ब्रह्म है', तो अब तुम आसानी से कह सकोगे कि यह जो मणिमाला में सूत्र के समान सब चराचर में ओत-प्रोत, सर्वान्तर्यामी परम आत्मा है, वह ब्रह्म है। तुम समस्त पदार्थों में व्याप्त हुए उसे हस्तामलकवत् देख सकोगे और अपने अनुभव से कह सकोगे— '**अयम् आत्मा ब्रह्म**', अर्थात् 'यह सब पदार्थों का आत्मा ओङ्कार ब्रह्म है।'

परमात्मा चतुष्पात् है[२]

शिष्यो, तुमने ओङ्कार की व्याख्या करने के लिए कहा था। उसकी व्याख्या बहुत लम्बी है। इतनी लम्बी है कि युग-युगों तक चलती रहे, तो भी समाप्त नहीं होगी। फिर भी संक्षेप से कहता हूँ, सुनो। वह सब पदार्थों का आत्मा, सर्वान्तर्यामी परब्रह्म 'चतुष्पाद्' है। परन्तु 'चतुष्पाद्' पशु को भी कहते हैं, क्योंकि उसके चार पैर होते हैं। यह न समझ लेना कि मैं यह कह रहा हूँ कि ओङ्कार पशु है या पशु के समान निर्बुद्धि है। एक-एक पैर चतुर्थांश का सूचक होकर 'चतुष्पाद्' शब्द 'चारों पैरों से युक्त', अर्थात् पूर्ण का बोधक होता है। अब सुनो, ओङ्कार के चार पैर कौन-से हैं।

जैसे जीवात्मा का एक जागरित अवस्था का पैर है, दूसरा स्वप्नावस्था का पैर है, तीसरा सुषुप्ति अवस्था का पैर है और चौथा इन अवस्थाओं से परे का अपने वास्तविक स्वरूपवाला पैर है, वैसे ही ओङ्कार या परब्रह्म की भी ये चारों अवस्थाएँ कल्पित की जाती हैं। आगे जो मैं ओङ्कार के चार पाद बताने लगा हूँ, वे जीवात्मा के पक्ष में भी घटित होते हैं और परमात्मा के पक्ष में भी। पहले जीवात्मा का पक्ष समझ लेने पर परमात्मा के पक्ष में घटाना सुगम होगा।

चतुष्पाद् ब्रह्म के चारों पादों को तालिकारूप में निम्न प्रकार देखा जा सकता है—

---

१. अयमात्मा ब्रह्म। वही

२. सोऽयमात्मा चतुष्पाद्। वही

चतुष्पाद् ब्रह्म

पाद संख्या	प्रथमः पादः	द्वितीयः पादः	तृतीयः पादः	चतुर्थः पादः
स्थान	जागरित स्थानः	स्वप्न स्थानः	सुषुप्त स्थानः	स्थानातीतः
प्रज्ञा	ब्रहिःप्रज्ञः	अन्तःप्रज्ञः	प्रज्ञानघनः	नान्तःप्रज्ञः, न बहिःप्रज्ञः, नोभयतःप्रज्ञः, न प्रज्ञानघनः, न प्रज्ञः, न अप्रज्ञः
अङ्ग	सप्ताङ्गः	सप्ताङ्गः	एकीभूतः	अदृष्टः, अव्यवहार्यः, अग्राह्यः, अलक्षणः, अचिन्त्यः,
मुख	१९ मुखः	१९ मुखः	चेतोमुखः	अव्यपदेश्यः, प्रपञ्चोपशमः
भोग	स्थूल भुक्	प्रविविक्त भुक्	आनन्द भुक्	एकात्म-प्रत्ययसारः
पाद-नाम	वैश्वानरः	तैजसः	प्राज्ञः	शान्तः, शिवः, अद्वैतः

ब्रह्म का प्रथम पाद

"जागरित अवस्थावाला, बहिः प्रज्ञावाला, सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखोंवाला, स्थूल भोगवाला, वैश्वानर नामवाला ब्रह्म का प्रथम पाद है।"[1]

जागृतवाला स्थान

प्रथम पाद है जागी हुई अवस्थावाला। जब मनुष्य जागा होता है, तब उसका आत्मा भी जागा रहता है। ऐसे ही जब यह सृष्टि

१. जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

चल रही होती है, तब परमात्मा भी मानो जागा रहता है।

बहि:प्रज्ञानवाला

इस जाग्रदवस्था में जैसे जीवात्मा बहि:प्रज्ञ होता है, अर्थात् बाहर के कार्यों में उसकी प्रज्ञा लगी होती है, वैसे ही जागी अवस्था में परमात्मा भी बहि:प्रज्ञ होता है, अर्थात् उसकी प्रज्ञा बाहरी सृष्टि की सब व्यवस्थाओं के सञ्चालन में लगी होती है। सूर्योदय, चन्द्रोदय, छहों ऋतुओं का क्रम से आना-जाना, समुद्र-जल से भाप बनना, बादल बनना, वर्षा होना, नदियों का बहना, बीज से वृक्ष बनना, भूगोल-खगोल के सभी नियमों का परिचालन करना आदि सब कार्यों में वह संलग्न रहता है।

सात अंगोंवाला

जागृत अवस्था में जीवात्मा सप्तांग होता है, अर्थात् उसके सातों अङ्ग कार्य कर रहे होते हैं। शरीरस्थ जीवात्मा के सात अङ्ग हैं मस्तिष्क, आँखें, कान, वाग् (मुख), प्राण (फेफड़े) हृदय तथा पैर। जागते हुए जैसे जीवात्मा इन सातों अङ्गों से कार्य लेता है, वैसे ही परमात्मा भी। परमात्मा यद्यपि निराकार, निरवयव तथा अङ्गरहित है, तथापि आलङ्कारिक दृष्टि से उसके भी सातों अङ्ग मनीषी कवियों ने कल्पित किये हैं। तारामण्डलरूप अग्नि उसका मस्तिष्क है, सूर्य-चन्द्र दो आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं, परमात्मा से प्रकट हुए वेद उसकी वाणी हैं, वायु प्राण है, विश्वान्तरिक्ष हृदय है, पृथिवी पैर हैं।[१] यह मुण्डक उपनिषद् का रूपक है। अथर्ववेद में परमात्मा के अङ्गों का रूपक इस प्रकार बाँधा गया है—भूमि उसके पैर हैं, अन्तरिक्ष पेट है, द्युलोक मूर्धा है, सूर्य-चन्द्र आँखें हैं, अग्नि मुख है, वायु प्राणापान (फफड़े) हैं, दिशाएँ ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ हैं।[२] जागृत अवस्था में जैसे जीवात्मा पैर, पेट, मूर्धा

---

१. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥
—मु० २।१।४

२. यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
—अथर्व० १०।७, ३२-३४

(मस्तिष्क), आँख, मुख, फेफड़ों और ज्ञानवाहिनी नाड़ीरूप सप्तांगों से कार्य लेता है, ऐसे ही परमात्मा सृष्टिसंचालन रूप जागृत अवस्था में उक्त सातों अङ्गों से युक्त रहता है।

उन्नीस मुखोंवाला

जागृत अवस्था में जीवात्मा उन्नीस मुखों या साधनों से जीवनयापन, कर्मफलों का भोग तथा नवीन पाप-पुण्यों का उपार्जन करता है। उसके उन्नीस मुख होते हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और अन्तःकरण-चतुष्टय, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से वह विविध ज्ञान प्राप्त करता है। पाँच कर्मेन्द्रियों से वह विविध कर्म करता है। पञ्च प्राणों से वह जीवन धारण करता है। मन से मनन करता है, बुद्धि से निश्चय करता है, चित्त से स्मरण करता है, अहंकार से अभिमान करता है कि मैं अमुक कर्म का कर्त्ता हूँ आदि। इसी प्रकार परमात्मा भी अपनी सृष्टिसंचालनरूप जाग्रदवस्था में इन्हीं उन्नीसों मुखों या साधनों से कार्य करता है, परन्तु उसके ये उन्नीसों मुख स्थूलरूप में न होकर, शक्तिरूप में उसके साथ रहते हैं। जैसे जीवात्मा स्थूल आँखों से देखता, स्थूल कानों से सुनता, स्थूल हाथों-पैरों से कार्य करता एवं चलता है, स्थूल प्राणों से शरीर को सजीव रखता है और स्थूल-अहंकारचतुष्टय से मनन, निश्चय आदि करता है, वैसे ही परमात्मा शक्तिरूप सूक्ष्म आँखों से देखता है, शक्तिरूप सूक्ष्म कानों से सुनता है, शक्तिरूप सूक्ष्म हाथों-पैरों से व्यापार करता है, शक्तिरूप सूक्ष्म प्राणों से सदा जीवित रहता है, शक्तिरूप अहंकारचतुष्टय से मनन, निश्चय, स्मरण एवं अभिमान करता है। सब इन्द्रिय आदियों से रहित होता हुआ भी वह सब इन्द्रिय आदियों के गुणों से आभासित रहता है।[1]

स्थूलभुग्

जागृत अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा दोनों स्थूलभुग् होते हैं। जीवात्मा स्थूलभुग् इस कारण होता है, क्योंकि वह स्थूल पदार्थों का भोग करता है। आँखों से स्थूल पदार्थों का दर्शनरूप भोग करता है। कानों से स्थूल शब्दों का श्रवणरूप भोग करता है। नासिका से स्थूल गन्ध का सूँघनारूप भोग करता है। जिह्वा

---

१. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। —श्वेता० उप० ३।१७
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। —वही ३।१९

से स्थूल रसों का स्वादरूप भोग करता है। त्वचा से स्थूल पदार्थों का स्पर्शरूप भोग करता है। परमात्मा अपनी जाग्रदवस्था, अर्थात् सृष्ट्यवस्था में स्थूलभुग् इस कारण है, यतः वह स्थूल पदार्थों के पालन में संलग्न होता है। भुज दातु के दो अर्थ होते हैं, एक भोग करना, दूसरा पालन करना—**भुज पालनाभ्यवहारयोः**। जीवपक्ष में प्रधानतः भोग अर्थ लेना है और परमात्मपक्ष में पालन अर्थ। ब्रह्माण्ड में ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदि अनेक लोक हैं, लोकों में भी नदी, पहाड़, समुद्र, बादल, पशु, पक्षी, जलचर, मनुष्य आदि विविध सृष्टि है, जिसका पालन और रक्षण परमात्मा करता है। जीव-पक्ष में भोग अर्थ के साथ किसी अंश में पालन अर्थ भी ले सकते हैं। मात-पिता अपनी सन्तान का पालन करते हैं, आचार्य शिष्यों का पालन करता है, पशु-पक्षी भी अपने शिशुओं का पालन करते हैं। परन्तु परमात्मा-पक्ष में पालन के साथ भोग अर्थ नहीं ले सकते।

वैश्वानर नामवाला

इस प्रथम पाद का नाम 'वैश्वानर' है। क्यों? विश्वानर का अर्थ है, सबको प्राप्त। वही अर्थ वैश्वानर का भी है, क्योंकि 'विश्वानर' से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'वैश्वानर' बनता है।[1] जागृत अवस्था में जैसे जीवात्मा भोग के लिए सब पदार्थों को प्राप्त करता है, वैसे ही परमात्मा सृष्टि के सब पदार्थों को पालन के लिए प्राप्त करता है। सब पदार्थों से सीधा सम्बन्ध जाग्रदवस्था में ही होता है, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्था में नहीं। अतएव जाग्रदवस्थावाले पाद का नाम वैश्वानर है।

ब्रह्म का द्वितीय पाद

"स्वप्न अवस्थावाला, अन्तः प्रज्ञावाला, सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखोंवाला, प्रविविक्त भोगवाला, तैजस नामवाला ब्रह्म का द्वितीय पाद है।"[2]

स्वप्न स्थानवाला

जैसे पहला पाद जागृत अवस्था का था, वैसे यह द्वितीय पाद

---

१. विश्वान् सर्वान् अरः गतः प्राप्तः विश्वानरः। विश्वानर एव वैश्वानरः। स्वार्थे अण् प्रत्ययः। "अपि वा विश्वानर एव स्यात्, प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि।" —निरुक्त ७।२१

२. स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥४॥

स्वप्नावस्था का है। जीवात्मा के शरीर की स्वप्नावस्था वह कहाती है, जिसमें शरीर सो जाता है, किन्तु गाढ़ निद्रा न होने से आत्मा स्वप्न देखता रहता है। इस अवस्था में शरीर ही सोता है, जीवात्मा नहीं सोता, क्योंकि वह भी सो जाए तो स्वप्न कैसे ले? जीव की स्वप्नावस्था के समान परमात्मा की भी एक स्वप्नावस्था होती है। यह वह अवस्था होती है, जिसमें दीर्घ प्रलयकाल की समाप्ति के पश्चात् परमात्मा सृष्टि की योजना बनाता है, मानो स्वप्न लेता है कि इस-इस प्रकार का जगत् बनाऊँगा और साथ ही कारण जगत् प्रकृति में सर्जनोन्मुखी क्रिया आरम्भ कर देता है।

अन्तःप्रज्ञावाला

जीवात्मा स्वप्नावस्था में बहिःप्रज्ञ न होकर अन्तःप्रज्ञ होता है, क्योंकि बाह्य जगत् से उसका साक्षात् सम्बन्ध टूट जाता है। इस अवस्था में अनुभूत जगत् के सम्बन्ध में वह मन के खेल खेल रहा होता है, मन की उड़ानें भर रहा होता है। स्वप्न में वह कभी स्वादिष्ट पकवान खाता है, कभी सुन्दर दृश्यों को देखता है, कभी आकाश में उड़ता है, कभी शत्रु पर आक्रमण करता है, कभी विजय मनाता है, कभी सोना-चाँदी-हीरे आदि के बहुमूल्य आभूषण प्राप्त करता है। सोकर उठता है तो देखता है कि वह सब स्वप्न का मायाजाल था, मन की कल्पना थी, अन्तःप्रज्ञा की उड़ान थी। ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में, अर्थात् सृष्टिसर्जनोन्मुख स्थिति में अपनी मानस कल्पनाओं में लगा होता है। वह योजना बनाता है कि ऐसा चाँद रचूँगा, ऐसा सूरज बनाऊँगा, ऐसे मेघ बनाऊँगा, ऐसी बिजली चमकाऊँगा, ऐसे वृक्ष-वनस्पति रचूँगा, ऐसा ऋतुचक्र चलाऊँगा, बारह मासोंवाला वर्ष बनाऊँगा। वह भी इस अवस्था में अन्तःप्रज्ञ होता है, क्योंकि बाह्य जगत् तो तब होता ही नहीं है, जिससे उसकी प्रज्ञा उसमें लगे। स्वप्नावस्था में यद्यपि जीवात्मा और परमात्मा दोनों अन्तःप्रज्ञ होते हैं, तथापि अंतर यह है कि जीव के स्वप्न तो यथार्थ बहुत कम होते हैं, प्रायः अयथार्थ ही होते हैं, किन्तु परमात्मा के स्वप्न यथार्थ होते हैं।

सात अङ्गोंवाला

जीवात्मा जैसे जागृत अवस्था में सप्तांग होता है, वैसे ही स्वाप्नावस्था में भी सप्ताङ्ग रहता है। प्रथम पाद की व्याख्या में गिनाये गये उसके सातों अङ्ग मन में समाहित हुए कार्य कर रहे

होते हैं। ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में, अर्थात् सृष्टि की योजना बनाते समय सप्ताङ्ग रहता है। प्रथम पाद में परमात्मा के जो सात अङ्ग मुण्डक उपनिषद् तथा अथर्ववेद के अनुसार बताये गये थे, वे जगत् की सर्जनोन्मुख स्थिति में केवल उसकी कल्पना में होते हैं, साकार रूप में नहीं। उसके भूमिरूप पैर, अन्तरिक्षरूप पेट, द्युलोकरूप मूर्धा आदि सप्ताङ्ग वैचारिक होते हैं, अर्थात् वह विचार कर रहा होता है कि इन-इन सप्ताङ्गों को बनाकर मैं सृष्टि अवस्था में इनसे काम लूँगा।

उन्नीस मुखोंवाला

जीव जाग्रदवस्था के समान स्वप्नावस्था में भी उन्नीस मुखों से युक्त रहता है। उसके पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण सूक्ष्मरूप में उसके साथ रहते हुए कार्य कर रहे होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ साथ न हों तो उसे देखने, सुनने आदि के स्वप्न न आएँ। कर्मेन्द्रियाँ साथ न हों तो स्वप्न में चलने-फिरने, लेने-देने आदि का अनुभव न करे। प्राण साथ न हों तो प्राणन-अपानन आदि क्रिया न करे। अन्तःकरण साथ न हों तो चिन्तन स्मरण आदि न कर सके। इसी प्रकार परमात्मा की भी जाग्रदवस्था के समान स्वप्नावस्था, अर्थात् जगत्-सिसृक्षा एवं जगत्-सर्जना की अवस्था में भी उन्नीसों मुख शक्तिरूप में उसके साथ रहते हैं। कल्पना में साकार हुए जगत् को वह शक्तिरूप आँखों से देख रहा होता है, कल्पना में साकार हुए शब्द को वह शक्तिरूप कानों से सुन रहा होता है। कल्पना में साकार हुए रस को वह शक्तिरूप जिह्वा से चख रहा होता है। कल्पना में साकार हुए गन्ध को वह शक्तिरूप नासिका से सूँघ रहा होता है। कल्पना में साकार हुई कठोरता, कोमलता आदि को वह शक्तिरूप त्वचा से अनुभव कर रहा होता है। हाथ-पैर आदि की शक्ति से वह जगत्-सर्जना का व्यापार भी कर रहा होता है। कहा भी है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

—ऋग्० १०।८१।३

अर्थात् विश्वकर्मा परमात्मा को जब प्रकृति में से द्यावापृथिवी की रचना करनी होती है, तब चारों ओर उसकी आँखें होती हैं, चारों ओर मुख होते हैं, चारों ओर भुजाएँ होती हैं, चारों ओर

पैर होते हैं। वह भुजाओं से प्रकृति को गूँद रहा होता है, पैरों से प्रकृति को रौंद कर गारा बना रहा होता है। यह सब आलङ्कारिक वर्णन है।

प्रविविक्त भोगवाला

स्वप्नावस्था में जीवात्मा प्रविविक्तभुग्, अर्थात् सूक्ष्मभुग् होता है, क्योंकि स्थूल जगत् का नहीं, प्रत्युत सूक्ष्म जगत् का भोग कर रहा होता है। सूक्ष्म जगत् से अभिप्रेत है मानस जगत् या काल्पनिक जगत्। ऐसे ही परमात्मा भी अपनी स्वप्नावस्था में, अर्थात् भावी जगत् की योजना बनाते समय तथा प्रकृति के गर्भ से जगत् को उत्पन्न करते समय सूक्ष्म जगत्, कल्पनाश्रित जगत् या कारण जगत् का पालन कर रहा होता है। परमात्मा के पक्ष में भोग का अर्थ पालन है, यह पहले दर्शा चुके हैं। विचार में भावी जगत् का पालन करने का आशय है जब तक जगत् बन नहीं जाता तब तक निरन्तर उसे अपनी कल्पना में स्थिर रखना।

तैजस नामवाला

जैसे प्रथम पाद का नाम 'वैश्वानर' था, वैसे इस द्वितीय पाद का नाम 'तैजस' है। प्रलयावस्था में प्रकृति सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप होती है। परमेश्वर उसमें गति या तेज का सूत्रपात करता है, तब प्रकृति के तत्त्वों में साम्यवस्था से विषमावस्था आ जाने से प्रकृति सर्जनोन्मुख होती है। परमेश्वर का विचार भी तैजस कोटि में आता है। प्रकृति सर्जनोन्मुख होकर जिस पहले पदार्थ 'हिरण्यगर्भ' को उत्पन्न करती है, वह भी तैजस होता है। इन कारणों से इस द्वितीय पाद का नाम 'तैजस' रखा गया है।

ब्रह्म का तृतीय पाद

"जिसमें सोया हुआ मनुष्य न कोई कामना करता है, न कोई स्वप्न देखता है, वह सुषुप्तावस्था होती है। सुषुप्ति अवस्थावाला, एकीभूत, प्रज्ञानघन, आनन्दमय, आनन्दभुग्, चेतोमुख, प्राज्ञ नामवाला ब्रह्म का तृतीय पाद है।"[1]

सुषुप्त स्थानवाला

तृतीय पाद सुषुप्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है।

१. यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

सुषुप्तावस्था वह कहलाती है, जिसमें न कुछ कामना करता है, न ही स्वप्न देखता है। यह गाढ़ निद्रा की अवस्था होती है। जीवात्मा सुषुप्तावस्था में चिन्ता-वितान, इच्छा, वासना, स्वप्न आदि से रहित होकर गहरी नींद छानता है। परमात्मा की सुषुप्ति जगत् की प्रलयावस्था है। जाग्रदवस्था में परमात्मा सृष्टि के संचालन में व्यस्त होता है, स्वप्नावस्था में जगत्-प्रपञ्च को रचने का स्वप्न ले रहा होता है। किन्तु सुषुप्तावस्था, अर्थात् प्रलयावस्था में सुदीर्घ-काल तक निश्चिन्त रहता है। न उसे जगत् की व्यवस्था की चिन्ता होती है, न जगत् को रचने की चिन्ता होती है। यद्यपि प्रलयावस्था का संचालन भी एक कार्य है, तथापि वह स्वतः होता रहता है, जैसे सुषुप्ति अवस्था में शरीर के बहुत-से कार्य प्राणापान की क्रिया, रक्तसंचालन, मूत्रसंस्थान आदि के कार्य स्वतः होते रहते हैं।

प्रज्ञानघन

जागृत तथा स्वप्न अवस्थाओं में जीवात्मा और परमात्मा क्रमशः बहिःप्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ थे, परन्तु सुषुप्तावस्था में जैसे जीवात्मा प्रज्ञानघन होता है, वैसे ही परमात्मा भी। ज्ञान को ठोस रूप में सम्पिण्डित कर दिया जाए, तो वह प्रज्ञानघन की स्थिति होती है। जीवात्मा को सुषुप्ति में पृथक्-पृथक् पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, घनरूप सम्पिण्डित ज्ञान होता है। सुषुप्ति अज्ञान की अवस्था नहीं है, घनाकार ज्ञान की अवस्था है। प्रलयावस्था में पृथक्-पृथक् पदार्थों की स्थिति ही नहीं होती, न उनका खाका मानस में या विचार में होता है, अतः परमात्मपक्ष में भी सुषुप्तावस्था या प्रलयावस्था में न पृथक्-पृथक् पदार्थों का दर्शन परमात्मा करता है, न मानस में उनकी योजना बनाता है। उस समय परमात्मा की सम्पिण्डित या घनीभूत ज्ञान की अवस्था होती है; अतः वह प्रज्ञानघन कहलाता है।

एकीभूत

जागृत् और स्वप्न की अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा दोनों सप्ताङ्ग थे, परन्तु इस सुषुप्ति की गाढ़ निद्रा में पूर्वोक्त सातों अङ्ग नहीं रहते। सुषुप्ति में जीवात्मा के मस्तिष्क आँख, कान, मुख, फेफड़े, हृदय, पैर ये सातों अङ्ग निश्चेष्ट हो जाते हैं। उस काल में जीवात्मा न मस्तिष्क से बोध करता है, न आँखों से देखता है, न कानों से सुनता है, न मुख से वाणी बोलता है, न

पैरों से चलता है। हृदय और फेफड़े यद्यपि कार्य करते रहते हैं, किन्तु उनकी क्रिया स्वयं संचालित होती है, आत्मा को उन क्रियाओं का बोध नहीं होता। सातों अङ्ग आत्मा में एकीभूत हो जाते हैं। इसी प्रकार परमेश्वर भी अपनी सुषुप्तावस्था, अर्थात् प्रलयावस्था में एकीभूत होता है। परमेश्वर के जागृत अवस्था तथा स्वप्नावस्था में पूर्व परिगणित किये गये सातों अङ्ग न सत्ता में होते हैं, न ही विचार में होते हैं। परमेश्वर एवं प्रकृति में एकीभूत रहते हैं, अतः इस तृतीय पाद को एकीभूत कहा गया है।

चेतोमुख

जागृत और स्वप्न स्थानों में जीवात्मा और परमात्मा दोनों उन्नीस-उन्नीस मुखोंवाले थे, परन्तु सुषुप्तावस्ता में उन्नीसों मुख या साधन नहीं रहते। चेतस् या चेतना रूप मुख (साधन) ही जीवात्मा एवं परमात्मा के पास रहता है। अन्य उन्नीसों मुख जीवात्मा और परमात्मा में ही समाविष्ट रहते हैं, पृथक् उनकी स्थिति नहीं रहती, विचार में भी वे नहीं रहते, अतः इस पाद को अथवा इस पाद के जीवात्मा और परमात्मा को केवल चेतोमुख वर्णित किया गया है।

आनन्दमयः, आनन्दभुग्

जागृत एवं स्वप्न की अवस्थाओं में जीवात्मा आनन्दमय नहीं होता। जागते हुए नाना कार्यों में व्यापृत रहने से उन-उन कार्यों में ही मग्न रहता है। आनन्द की अनुभूति करता भी है तो वह सांसारिक एवं सामान्य कोटि का ही आनन्द होता है। स्वाप्नावस्था में भी अनेक स्वप्न के प्रपञ्चों में तल्लीन रहने से तथा स्वप्न के कृत्रिम सुख की ही अनुभूति करने से वस्तुतः आनन्दमयता की स्थिति में नहीं होता। किन्तु सुषुप्तावस्था की गाढ़ निद्रा में वह आनन्द ही आनन्द में रहता है, आनन्दमय होता है और आनन्द का भोग भी करता है, जिसे वह गाढ़ निद्रा से जागने पर इस रूप में प्रकट करता है कि 'आज बड़ा आनन्द आया, आज बहुत सुख की नींद सोया'। ऐसे ही परमात्मा भी जागृत अवस्था में सृष्टिसंचालन में लगा होने से तथा स्वप्नावस्था में सृष्टि की योजना एवं रचना में तत्पर होने से आनन्द की ओर ध्यान नहीं देता। सृष्टि की प्रलयावस्था में उसकी पूर्ण आनन्दमयता अभिव्यक्त होती है और वह आनन्द का भोग या अनुभव भी करता है।

प्राज्ञ नामवाला

प्रथम दो पादों का नाम क्रमशः 'वैश्वानर' तथा 'तैजस' था। सुषुप्ति अवस्थावाले इस तृतीय पाद का नाम 'प्राज्ञ' है, क्योंकि इस अवस्था में जीवात्मा और परमात्मा न जागृत अवस्था के समान बहिःप्रज्ञ होते हैं, न स्वप्नावस्था के समान अन्तःप्रज्ञ, किन्तु प्रज्ञानघन होते हैं।

यही सर्वेश्वर है

"सुषुप्ति अवस्थावाले प्राज्ञ पाद में वर्णित यह परमात्मा ही सबका ईश्वर है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, सब जगत् का कारण है, सब भूतों की उत्पत्ति-विनाश का कर्त्ता है।"[१]

गुरुजी, यहाँ हमारे मन में एक शङ्का उत्पन्न हुई है। वैश्वानर पाद, तैजस पाद और प्राज्ञ पाद तीनों से सूचित परमात्मा तो एक ही है। तीनों पादों में वर्णित विभिन्न अवस्थाएँ एक ही परमात्मा की तीन अवस्थाएँ हैं। फिर इस प्राज्ञ पादवाले परमात्मा को ही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी आदि क्यों कह रहे हैं?

साधुवाद शिष्यो, तुम्हारी शङ्का ठीक है। इसका उत्तर सुनो। परमात्मा का प्राज्ञ पाद से सूचितरूप ही मूलरूप है। जागृत अवस्थावाले वैश्वानर पाद का परमात्मा सृष्टिसंचालनकर्त्ता मात्र है। स्वप्नावस्थावाले तैजस पाद का परमात्मा सृष्ट्युत्पत्तिकर्त्ता मात्र है। परन्तु प्राज्ञ पादवाला परमात्मा किसी एक कार्य में बँधा हुआ नहीं है। अतः उसी को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि कहा गया है।

पुत्रो, इस बात को एक लौकिक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। जैसे परमात्मा के विभिन्न रूप बतलाये गये हैं, वैसे ही मनुष्य के भी विभिन्न रूप होते हैं। एक ही मनुष्य किसी का पिता होता है, किसी का पितामह होता है, किसी का भाई होता है, किसी कारखाने का स्वामी भी हो सकता है, किसी धर्म का प्रवर्तक भी हो सकता है, किसी विद्यालय या महाविद्यालय का प्राचार्य भी हो सकता है, किसी परिवार का गृहपति भी हो सकता है। अन्य भी उसके विविध रूप हो सकते हैं। किन्तु प्रत्येक क्षेत्र से विशिष्ट मनुष्य उसी एक-एक क्षेत्र तक सीमित रहता है। उस मनुष्य में जब उक्त सब बातों का वैशिष्ट्य बताना अभिप्रेत होगा, तब उस

---

१. एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६॥

मनुष्य का मूल नाम लेकर ही कहेंगे कि वह इन सब कार्यों का कर्त्ता है। यही बात परमात्मा के विषय में लागू होती है। तृतीय पाद में वर्णित रूप जगद्विशिष्ट परमात्मा का मूलरूप है। अत: उसी को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि कहा गया है। संभवत: तुम यह शङ्का भी करो कि आगे वर्णित होनेवाले चतुर्थ पाद के परमात्मा को सर्वेश्वर, सर्वज्ञ आदि क्यों नहीं कहा गया। इसका उत्तर यह है कि चतुर्थ पाद में वर्णित परमात्मा तो जगद्विशिष्ट नहीं, किन्तु जगदतीत ब्रह्म है, अत: उसके साथ जगत् के सम्बन्ध सर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व आदि नहीं देखे जा सकते।

समझ गये आचार्यवर, अब ओङ्कार के चतुर्थ पाद का वर्णन करने का अनुग्रह कीजिए।

ब्रह्म का चतुर्थ पाद

सुनो शिष्यो, तीन पादों में परमात्मा के जो-जो रूप वर्णित किये गये हैं, उन सबमें 'न' लगा दो, तो वह ओङ्कार के चतुर्थ पाद से सूचित परमात्मा हो जाता है।

"न अन्त:प्रज्ञ है, न बहि:प्रज्ञ है, न अन्तर्बहि:प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है, अग्राह्य है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अव्यपदेश्य है, एकात्मप्रत्ययसार है, प्रपञ्चोपशम है, शान्त है, शिव है, अद्वैत है। उसे चतुर्थ कहते हैं। वह सबका आत्मा (परम आत्मा) है। वही जानने योग्य है।"[१]

ओङ्कार या परमात्मा का चतुर्थ पाद जगत्-प्रपञ्च से परे की वस्तु है। उसमें परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की झाँकी मिलती है। श्रुति कहती है कि—"जगत्-प्रपञ्च में जो ब्रह्म का रूप दीख पड़ता है, वह तो केवल उसका चौथाई भाग है। उसी चतुर्थांश से वह जड़-चेतन जगत् में व्याप्त है। उसका शेष तीन चौथाई भाग तो जगत्-प्रपञ्च से ऊपर है।"[२] वही जगदतिक्रान्त तीन

---

१. नान्त:प्रज्ञं न बहि:प्रज्ञं नोभयत:प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम् अव्यवहार्यम् अग्राह्यम् अलक्षणम् अचिन्त्यम् अव्यपदेश्यम् एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम् अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स आत्मा स विज्ञेय: ॥७॥

२. त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुष: पादोऽस्येहाभवत् पुन:।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥ —ऋग्० १०।९०।४

चौथाई भाग ओङ्कार के चतुर्थ पाद से सूचित होता है। वह अवर्णनीय है, 'नेति' 'नेति' कहकर ही विराम कर लेना पड़ता है।

प्रथम पाद का परमात्मा बहि:प्रज्ञ था, किन्तु इस चतुर्थ पाद का बहि:प्रज्ञ नहीं है। तो क्या द्वितीय पाद के परब्रह्म के समान अन्त:प्रज्ञ है? नहीं, अन्त:प्रज्ञ भी नहीं है। तो क्या उसे उभयत:प्रज्ञ, अर्थात् बहि: और अन्त: दोनों ओर प्रज्ञावाला मानें? नहीं, ऐसा भी नहीं है। तो क्या वह तृतीय पाद के ब्रह्म के समान 'प्रज्ञानघन' है? नहीं, उसे प्रज्ञानघन भी नहीं कह सकते। तो क्या वह 'प्रज्ञ' (केवल प्रज्ञावाला) या 'अप्रज्ञ' (सर्वथा बिन प्रज्ञावाला) है? नहीं, ऐसा भी उसे नहीं कह सकते। कुछ तो बताओ कि वह कैसा है? वह अदृष्ट है, चर्म-चक्षुओं से आज तक उसे किसी ने नहीं देखा। वह 'अव्यवहार्य' है, उसके विषय में कुछ व्यवहार नहीं किया जा सकता कि वह ऐसा है या वैसा है। वह 'अग्राह्य' है, किसी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि से उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह 'अलक्षण' है, उसका कोई चिह्न, उसकी कोई पहचान या निशानी नहीं है। वह 'अचिन्त्य' है, पूर्णत: उसका चिन्तन भी नहीं किया जा सकता। वह 'अव्यपदेश्य' है, किसी नाम से उसका निर्देश नहीं हो सकता। हाँ, योगी लोग उसका अनुभव तो कर सकते हैं। वे 'एकात्मप्रत्ययसार' रूप में उसकी अनुभूति पाते हैं। उन्हें 'एक परम आत्मा का प्रत्यक्ष बोध होता है' यही उसकी सत्ता में प्रमाण है। वहाँ जगत्प्रपञ्च का उपशम हो जाता है। वह जगत् का उत्पादक संचालक, धारक, संहारक आदि है, ऐसी कुछ प्रतीति नहीं होती। वह 'शान्त' है, उपासक को भी उसके सान्निध्य से शान्ति प्राप्त होती है। वह 'शिव' है, मङ्गलमय और मङ्गलकारी है। वह 'अद्वैत' है, उसके सामीप्य में उसमें रमकर, उसमें घुल-मिलकर साधक को द्वैत होते हुए भी अद्वैत की प्रतीति होती है, 'प्रभु और मैं एक हो गये हैं' ऐसा लगता है। वही सच्चा आत्मा है, सब जड़-चेतन के अन्दर रमनेवाला अन्तर्यामी आत्मा है, परम आत्मा है, परब्रह्म है। उसी को जानना चाहिए, उसी की अनुभूति पानी चाहिए। यही ओङ्कार का चतुर्थ पाद है, परब्रह्म का चतुर्थ पाद है। यही चतुर्थपाद की व्याख्या है, जो अन्य तीनों पादों की व्याख्या से छोटी होती हुई भी सबसे बड़ी है।

तीन पाद ओङ्कार की तीन मात्राओं में निहित हैं

प्रथम तीन पादोंवाला परमात्मा अक्षर ओङ्कार की तीन मात्राओं में निहित है। 'ओम्' में तीन मात्राएँ हैं—अ, उ, म्। पाद मात्राएँ हैं, मात्राएँ पाद हैं, इनमें अन्योन्य सम्बन्ध है। 'ओम्' की एक-एक मात्रा से क्रमशः एक-एक पाद सूचित होता है। एक-एक पाद का विशाल रहस्य छोटी-सी एक-एक मात्रा में छिपा हुआ है।[१]

'अ' मात्रा में वैश्वानर पाद

जागरित स्थानवाला प्रथम वैश्वानर पाद 'ओम्' की प्रथम मात्रा 'अ' है, 'अ' में निहित है, 'अ' मात्रा से प्रकट या व्याख्यात होता है। क्यों? प्रथम पाद और 'अ' मात्रा में क्या साम्य है! पहला साम्य है 'आप्ति' का, आप्ति का अर्थ होता है व्याप्ति (आप्लृ व्याप्तौ)। अ अक्षर सब वर्णों स्वरों एवं व्यञ्जनों में व्याप्त रहता है। क, ख आदि व्यञ्जनों का उच्चारण तो 'अ' के बिना होता ही नहीं। स्वरों में स्वर ए, ओ, ऐ, औ में अ का योग रहता ही है। अ+इ=ए, अ+उ=ओ, अ+ए=ऐ, अ+ओ=औ। शेष एकल स्वर इ, उ, ऋ, लृ में भी सूक्ष्मरूप से अ की ध्वनि सन्निविष्ट रहती है। इसी प्रकार जागरित स्थानवाले वैश्वानर पाद में परमात्मा भी सृष्टि के सब उत्पन्न पदार्थों में व्याप्त रहता है। वैश्वानर पाद और 'ओम्' की 'अ' मात्रा में दूसरा साम्य है आदिमत्व का। जैसे 'ओम्' में 'अ' सबसे आदि की मात्रा है, ऐसे ही पादों में वैश्वानर पाद सबसे आदि का है। वर्णमाला में भी 'अ' अक्षर सबसे आदि का है।[२] यहाँ शङ्का हो सकती है कि स्वप्नस्थानीय तैजस पाद को आदि पाद क्यों न माना जाए, क्योंकि उसमें सृष्टि का आरम्भ होता है। इसका उत्तर है कि स्वप्न तो जाग्रदवस्था के आधार पर ही आते हैं। जागृत अवस्था में अनुभूत पदार्थ ही स्वप्न में दिखाई देते हैं। परमेश्वर भी स्वप्नावस्था में पूर्व सृष्टि के अनुसार ही नवीन सृष्ट्युत्पत्ति की योजना बनाता है। प्राणी जब जन्म लेता है, तब सर्वप्रथम परमेश्वर की जाग्रदवस्था की इस सृष्टि से ही उसका परिचय होता है। इन हेतुओं से वैश्वानर पाद ही 'अ'

---

१. सोऽयमात्मा अध्यक्षरम् ओङ्कारोऽधिमात्रम्, पादा मात्रा मात्राश्च पादाः, अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

२. जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा, आप्तेः आदिमत्वाद् वा ॥ ९ ॥

मात्रा के समान आदिमान् है।

फलश्रुति

जो साधक आप्तिमती 'अ' मात्रा के द्वारा आप्तिमान् एवं आदिमान् जागरितस्थानीय वैश्वानर पाद को हृदयङ्गम कर लेता है, उसके माध्यम से तत्तद् गुणों एवं कर्मों से विशिष्ट परमेश्वर का ध्यान करता है, परमात्मा के 'आप्तिमत्त्व' एवं 'आदिमत्त्व' को जान लेता है, वह स्वयं भी सब मनोरथों का प्राप्तकर्त्ता एवं सबका आदि हो जाता है। उपासक परमात्मा के जिन गुणों की उपासना करेगा, स्वभावतः स्वयं भी उन गुणों से युक्त हो जाएगा।[1]

'उ' मात्रा में तैजस पाद

स्वप्न स्थानवाला द्वितीय तैजस पाद 'ओम्' की द्वितीय मात्रा 'उ' में निहित है, 'उ' मात्रा से प्रकट या व्याख्यात होता है। 'उ' मात्रा और द्वितीय पाद दोनों में क्या साम्य है? पहला साम्य है उत्कर्ष का। 'उ' का उचारण करते समय उच्चारणावयव ओष्ठ आगे को बढ़ते हैं, एवं उत्कर्ष होता है। स्वप्नावस्था जाग्रदवस्था की अपेक्षा सूक्ष्म होती है और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म में अधिक उत्कर्ष होता है। परमेश्वर की स्वप्नावस्था में प्रकृति के गर्भ से सृष्टि निकल रही होती है, अतः वहां भी उत्कर्ष होता है। दूसरा साम्य है 'उभयत्व' का। 'ओम्' में 'उ' अ और म् के मध्य में स्थित है, एवं दोनों के साथ उसका सम्बन्ध है। इसी प्रकार तैजस नामक द्वितीय पाद वैश्वानर-पाद तथा प्राज्ञ-पाद दोनों के मध्य में स्थित होने से दोनों के साथ सम्बद्ध है। यों भी परमात्मा की सृष्ट्युत्पत्ति-रूप स्वप्नावस्था का उससे पूर्व की सुषुप्तिरूप प्रलयावस्था तथा जाग्रदवस्था-रूप सृष्टि-अवस्था दोनों से सम्बन्ध रहता ही है, क्योंकि प्रलय के गर्भ से सृष्टि निकलती है और उत्पत्ति के पश्चात् चिरकाल तक स्थिति में रहती है।[2]

फलश्रुति

जो उपासक उत्कर्षमयी एवं उभयत्वमयी द्वितीय मात्रा 'उ' के द्वारा स्वप्नस्थानीय तैजस पाद का मर्म समझ लेता है, उसमें वर्णित परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करता है, उसकी ज्ञानधारा

---

१. आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् आदिश्च भवति, य एवं वेद। वही

२. स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा, उत्कर्षाद् उभयत्वाद् वा॥ १०॥

उत्कर्ष को प्राप्त कर लेती है और वह दो पक्षों में दोनों का समानरूप से प्रिय हो जाता है, उभयनिष्ठ हो जाता है। उत्कर्ष एवं उभयत्व गुणों की चिन्तना से उसके अन्दर भी ये गुण आ जाने स्वाभाविक ही हैं। तीसरा फल उसे यह प्राप्त होता है कि उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता। अपने कुल के वर्तमान सदस्यों को वह अपने समान ब्रह्मवित् बना ही देता है और उसकी भावी सन्तति भी ब्रह्मवित् ही होती है, यतः पिता के गुण सन्तान में आते ही हैं।[१]

'म्' मात्रा में प्राज्ञ पाद

सुषुप्ति स्थानवाला तृतीय प्राज्ञ पाद 'ओम्' की तृतीय मात्रा 'म्' में निहित है, 'म्' मात्रा से व्याख्यात होता है। 'म्' मात्रा और प्राज्ञ पाद में क्या समानता है? पहली समानता 'मिति' की है। 'मिति' से माप अभिप्रेत है। 'म्' वर्गों का अन्तिम अक्षर है। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग—इनमें क् से आरम्भ करके बीच के सब अक्षर अन्तिम वर्ण म् के द्वारा माप लिये जाते हैं। ऐसे ही परमेश्वर की स्वप्नावस्था से लेकर सुषुप्तावस्था (प्रलयावस्था) तक का सब घटनाचक्र प्राज्ञ पाद द्वारा माप लिया जाता है। दूसरी समानता है 'अपीति', अर्थात् लय की। जब हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, तब पहले मुख खुलता है, फिर ओष्ठ आगे की ओर बढ़ते हैं, अन्त में मकार बोलते समय मुख बन्द हो जाता है। मानो सब-कुछ मुख में लीन हो गया। इसी प्रकार जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्था का सब स्थूल-सूक्ष्म जगत्प्रपञ्च प्रलयावस्था में लीन हो जाता है। इन समानताओं के आधार पर मकार मात्रा से प्राज्ञ पाद का ग्रहण होता है।[२]

फलश्रुति

जो साधक मापनेवाली एवं लय करनेवाली तृतीय मात्रा 'म्' के माध्यम से सुषुप्तिस्थानीय प्राज्ञ पाद को हृदयङ्गम कर लेता है, प्राज्ञ पाद में वर्णित परमात्मा का ध्यान करता है, उसमें सब पदार्थों को मापने का, अर्थात् उनकी इयत्ता अवधारण करने का गुण आ जाता है। साथ ही वह सबका अपीति-स्थान, अर्थात् विश्रान्ति-

---

१. उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद॥ वही

२. सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा, मितेरपीतेर्वा ॥११॥

स्थल भी हो जाता है। नाना तापों से सन्तप्त लोग उसके पास विश्रान्तिलाभ करके स्वयं को कृतार्थ मानते हैं।[1]

चतुर्थ पाद अमात्र है

'ओम्' में तीन ही मात्राएँ हैं 'अ, उ, म्'। इन तीनों से क्रमशः प्रथम तीन पाद गृहीत हो जाते हैं। तो फिर परमात्मा का पूर्ववर्णित चतुर्थ पाद किससे गृहीत होता है? 'ओम्' के उच्चारण में 'म्' बोलने के अन्त में हृदय में जो एक गूँज-सी अनुभव होती है, जो पृथक् कोई मात्रा नहीं है, उसी को चतुर्थ पाद का बोधक माना जा सकता है।

चतुर्थ पाद अमात्र है, अव्यवहार्य है, प्रपञ्चोपशम है, शिव है। इसे हृदयङ्गम करके जीवात्मा परमात्मा से अपना अद्वैत-सा अनुभव करने लगता है, जैसे पुत्र पिता के प्रेम में विह्वल होकर स्वयं को पिता के साथ एकाकार हुआ अनुभव करता है।[2]

फलश्रुति

जो उपासक चतुर्थ पाद की अनुभूति कर लेता है, उसे यह भान होने लगता है कि यह ओङ्कारपदवाच्य परमात्मा मेरे आत्मा का भी आत्मा है, परम आत्मा है। उसे वह समग्र जड़-चेतन जगत् में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में देखता है। जो परमात्मा को अपने आत्मा का तथा सब जड़-चेतन जगत् का आत्मा देख लेता है, वह अपने आत्मा से उस परम आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् उसके प्रेम में विह्वल होकर उसी का हो जाता है।[3]

चतुष्पाद् ओङ्कार की माण्डूक्य ऋषि द्वारा कृत उक्त सम्पूर्ण व्याख्या को सुनकर शिष्यमण्डली कृतार्थ हो जाती है। गुरुचरणों में प्रणाम करके तथा गुरुदक्षिणा का नैवेद्य देकर स्वयं को सौभाग्यशाली मानती है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

१. मिनोति ह वा इदं सर्वम्, अपीतिश्च भवति॥ वही

२. अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः ॥१२॥

३. एवमोङ्कार आत्मैव। संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद, य एवं वेद॥ वही

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. माण्डूक्योपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है? इसका विषय क्या है?

२. 'ओम्' अक्षर कैसे है?

३. सकल ब्रह्माण्ड उसी 'ओम्' का उपव्याख्यान कैसे है?

४. भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् सब ओङ्कार कैसे है?

५. त्रिकालातीत किसे कहते हैं? वह ओङ्कार कैसे है?

६. 'यह सब-कुछ ब्रह्म है' इस स्थापना को पुष्ट कीजिए।

७. चतुष्पाद् ब्रह्म की तालिका बनाइये।

८. जीव और ब्रह्म के पक्ष में जगत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय अवस्था का तात्पर्य स्पष्ट कीजिए।

९. ओङ्कार के वैश्वानर पाद की व्याख्या कीजिए।

१०. ओङ्कार के तैजस पाद की व्याख्या कीजिए।

११. ओङ्कार के प्राज्ञ पाद की व्याख्या कीजिए।

१२. ओङ्कार के चतुर्थ पाद की व्याख्या कीजिए।

१३. जाग्रदवस्था में जीव और ब्रह्म उन्नीस मुखोंवाले कैसे होते हैं?

१४. ब्रह्म के चार पाद ओङ्कार की किन मात्राओं से सूचित होते हैं। उन मात्राओं तथा पादों में क्या साम्य है?

१५. मात्राओं द्वारा पादों के ज्ञान की फलश्रुति कहिए।

१६. चतुर्थ पाद अमात्र है। कैसे?

१७. ओङ्कार के ज्ञान का क्या फल होता है?

ओ३म्

७. ऐतरेयोपनिषद्

ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक से ली गयी है। ऐतरेय आरण्यक में पाँच आरण्यक हैं, जिनमें से द्वितीय आरण्यक में प्रस्तुत उपनिषद् आती हैं। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में प्राणविद्या (प्राणोपनिषद्) वर्णित है, चतुर्थ अध्याय से अन्त के सप्तम अध्याय तक ऐतरेय उपनिषद् है। ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ऋषि का बनाया हुआ है, फलतः ऐतरेय उपनिषद् भी उसी ऋषि की रचना है।

इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। पहले अध्याय में तीन खण्ड हैं और दूसरे तथा तीसरे में एक-एक ही खण्ड है। तीसरे अध्याय के अन्त में शान्तिपाठ है।

पहले अध्याय के प्रथम खण्ड में लोकों तथा अग्नि, वायु, आदित्य आदि लोकपालों की सृष्टि का रहस्यमय वर्णन है। दूसरे खण्ड में यह बताया है कि अग्नि, वायु, आदित्य आदि बाह्य लोकपाल शरीर में वाणी, प्राण, चक्षु आदि के रूप में स्थित हुए हैं। तीसरे खण्ड में इन लोकपालों के लिए अन्न की उत्पत्ति तथा उसके भोग का वर्णन है। दूसरे अध्याय में पुरुष के तीन जन्म वर्णित किये गये हैं। तीसरे अध्याय में आत्मा कौन है, इसका विवेचन किया गया है तथा ब्रह्म का वर्णन है। अन्त में शान्ति पाठ है।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

सृष्टि उत्पन्न होने के पहले एक परमात्मा ही विद्यमान था। (उसके अतिरिक्त यद्यपि प्रकृति भी थी और अनेक जीवात्मा भी उस समय थे, तो भी ऐसा इस कारण कहा गया है कि) अन्य कोई आँख झपकानेवाला जन्तु विद्यमान नहीं था। परमात्मा ने सोचा कि लोकों की रचना करूँ।[१]

लोकों की रचना

उसने इन लोकों की रचना की—'अम्भः' लोक, 'मरीचि' लोक, 'मर' लोक और 'आपः' लोक। 'अम्भः' लोक वह है,

---

१. ओम्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १॥

जो द्युलोक ('स्व:' लोक) से आरम्भ करके उससे परे तक है, द्युलोक उसकी प्रतिष्ठा है, अर्थात् आधार या नींव है। 'मरीचि' लोक 'अन्तरिक्ष' लोक का नाम है, क्योंकि उसमें सूर्य की मरीचियाँ (किरणें) फैलती हैं। 'मर' लोक 'पृथिवी' लोक को कहते हैं, क्योंकि इसमें प्राणी मरते रहते हैं। 'आप:' लोक वे हैं, जो पृथिवीलोक से नीचे हैं ॥२ ॥[1]

व्याख्या

यहाँ ऐतरेय ऋषि ने चार लोकों की रचना बतायी है। वह किस प्रक्रिया से हुई, इसका वर्णन नहीं है। सामान्यत: लोक चौदह माने जाते हैं। भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप: और 'सत्यम्' ये सात लोक भूमि से आरम्भ करके एक-एक के बाद ऊपर-ऊपर हैं। प्रस्तुत प्रकरण में ऋषि ने 'भू:' लोक और 'भुव:' लोक का नाम तो 'मर' लोक और 'मरीचि' लोक के नाम से उल्लिखित कर ही दिया है, शेष पाँच लोक 'अम्भ:' लोक से गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि 'अम्भ:' लोक 'स्व:' लोक से आरम्भ करके ऊपर तक चला गया है। सात लोक भूलोक से नीचे माने जाते हैं, जिनका नाम क्रमश: नीचे की ओर अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल है। इन सातों का ग्रहण ऋषि के 'आप:' लोक में हो जाता है, क्योंकि यहाँ कहा गया है कि पृथिवीलोक से जो नीचे हैं वे 'आप:' लोक हैं। इस प्रकार ऐतरेय ऋषि से प्रोक्त चार लोकों में चौदहों भुवन आ गये हैं।

लोकपालों की रचना

परमात्मा ने विचारा—लोक तो ये बन गये, अब लोकपालों की रचना करूँ। उसने प्रकृति में से (आप: में से) विराट् पुरुष को निकालकर मूर्तरूप दिया ॥३ ॥[2]

उसे तपाया, तपने पर उसका मुख फूटा, जैसे अण्डा फूटता है। मुख से वाणी निकली, वाणी से **अग्नि**। उसके नासिका-छिद्र फूटे, नासिका-छिद्रों से प्राण निकला प्राण से **वायु**। उसके नेत्र-गोलक फूटे, नेत्र-गोलकों से चक्षु इन्द्रिय निकली, चक्षु से **आदित्य**।

---

१. स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमाप:। अदोऽम्भ: परेण दिवं, द्यौ: प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचय: पृथिवी मरो, या अधस्तात् ता आप: ॥२ ॥

२. स ईक्षतेमे नु लोका:, लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥३ ॥

उसके कर्ण-छिद्र फूटे, कर्ण-छिद्रों से श्रोत्र इन्द्रिय निकली, श्रोत्र से **दिशाएँ**। उसकी त्वचा फूटी, त्वचा में से लोम निकले, लोमों से **ओषधि-वनस्पतियाँ**। उसका हृदय फूटा, हृदय में से मन निकला, मन से **चन्द्रमा**। उसकी नाभि फूटी, नाभि में से अपान निकला, अपान से **मृत्यु**। उसका शिश्न फूटा, शिश्न से वीर्य निकला, वीर्य से **जल** बने॥ ४॥[1]

व्याख्या

परमात्मा ने 'आपः' में से एक विराट् पुरुषाकृति पिण्ड निकालकर उसे मूर्तरूप दिया। जब सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप प्रकृति में से वह पिण्ड निकला होगा, तब गैसरूप में रहा होगा। बाद में मूर्तरूप में आया। 'आपः' प्रकृति का नाम है, उसमें से चमकीले पिण्ड (हिरण्यय उल्व) के निकलने का वर्णन अथर्ववेद में भी आया है।[2] उसका मुख फूटने पर उसमें से वाणी निकली, वाणी से अग्नि पैदा हुआ। उसी अग्नि को आगे पुरुष-देह में वाणी बनकर प्रविष्ट होना है। ऐसे ही वायु को प्राण बनकर, आदित्य को चक्षु बनकर पुरुष-शरीर में जाना है। ऐसा ही दिशा, ओषधि-वनस्पति, चन्द्रमा आदि के लिए है। इस प्रकार विराट् पुरुष और सूक्ष्म पुरुष का परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए यह काव्यात्मक वर्णन ऐतरेय ऋषि ने प्रस्तुत किया है। इस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य आदि बाह्य लोकपालों की सृष्टि हुई है। आगे आन्तरिक लोकपालों की सृष्टि का वर्णन होगा।

द्वितीय खण्ड

ये अग्नि, वायु आदि देवता रची जाकर इस महान् जगत्-रूप समुद्र में गिरीं। उस देवता-समूह को परमात्मा ने भूख-प्यास से

---

१. तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत, यथाण्डं, मुखाद् वाग्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद् वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षीभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद् दिशः। त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत, हृदयान्मनो, मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत, नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद् रेतो, रेतस आपः॥४॥

२. आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्ययः॥ —अथर्व० ४।२।८

संयुक्त कर दिया। तब वे परमात्मा से बोलीं—हमें आयतन (घर) प्रदान करो, जिसमें प्रतिष्ठित होकर हम अन्न का भक्षण करें, भोज्य का स्वाद लें ॥१ ॥[1]

तब परमात्मा उन देवताओं के लिए बैल का शरीर लाया। देवता बोलीं—इससे हमारा काम नहीं चलेगा।

परमात्मा उनके लिए घोड़े का शरीर लाया। तब भी देवता बोलीं—इससे हमारा काम नहीं चलेगा ॥२ ॥[2]

परमात्मा उनके लिए पुरुष का शरीर लाया। तब देवताओं ने कहा—हाँ, यह सुरचित है। निश्चय ही पुरुष का शरीर सुरचित है।

परमात्मा ने उन्हें कहा—इस पुरुष-शरीर में यथास्थान प्रविष्ट हो जाओ ॥३ ॥[3]

तब अग्नि वाणी बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया। वायु प्राण बनकर नासिका-छिद्रों में प्रविष्ट हो गया। आदित्य, चक्षु बनकर नेत्र-गोलकों में प्रविष्ट हो गया। दिशाएँ श्रोत्र बनकर कानों में प्रविष्ट हो गईं। ओषधि-वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हो गईं। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। मृत्यु अपान बनकर नाभि में प्रविष्ट हो गया। जल वीर्य बनकर शिश्न में प्रविष्ट हो गये ॥४ ॥[4]

भूख-प्यास परमात्मा से बोलीं कि हमारे लिए भी पुरुष-शरीर में स्थान बनाओ। तब परमात्मा ने उन्हें कहा कि तुम्हें मैं इन्हीं देवताओं में भागी करता हूँ। इसलिए वाक्, प्राण, चक्षु आदि जिस-किसी भी देवता के लिए हवि दी जाती है, भूख-प्यास

---

१. ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनापिपासाभ्याम् अन्वार्जत्। ता एनमब्रुवन्, आयतनं नः प्रजानीहि, यस्मिन्, प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥१ ॥

२. ताभ्यो गामानयत्। ता अब्रुतन् न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्। ता अब्रुवन् न वै नोऽयमलमिति ॥२ ॥

३. ताभ्यः पुरुषमानयत्। ता अब्रुवन्, सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद् यथायतनं प्रविशतेति ॥३ ॥

४. अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४ ॥

उसमें सहभागी होती है ।।५ ।।[1]

व्याख्या

विराट् पुरुष-देह में मुख-छिद्र फूटने पर उसमें से वाणी निकली थी, जो अग्नि बन गई थी। वही अग्नि सूक्ष्म पुरुष-देह में वाणी बनकर प्रविष्ट हो गई। यही प्रक्रिया वायु, आदित्य, दिशा आदि के सम्बन्ध में हुई, अर्थात् जो-जो बाह्य देवता जिस-जिस से निकली थी, वह वही बनकर मानव-देह में प्रविष्ट हुई। इस प्रकार लोकपालों का विवरण हम इस रूप में दे सकते हैं—

बाह्य लोकपाल (जगत् में)	**आन्तरिक लोकपाल (मानव-देह में)**	
	नाम	निवासस्थान
अग्नि	वाक्	मुख
वायु	प्राण	नासिका
आदित्य	चक्षु	नेत्र-गोलक
दिशाएँ	श्रोत्र	कर्ण-गोलक
ओषधि-वनस्पति	लोम	त्वचा
चन्द्रमा	मन	हृदय
मृत्यु	अपान	नाभि
आपः	रेतस्	शिश्न

ऋषि ने कहा है कि भूख-प्यास को मानव-देह में अलग स्थान नहीं मिला, वह वाक्, प्राण, चक्षु आदि की ही सहभागी है। जैसे, वाक् को बोलने की भूख-प्यास लगती है, प्राण को साँस लेने की, चक्षु को देखने की।

तृतीय खण्ड

अन्न की उत्पत्ति और उसका भोग

परमात्मा ने विचारा—ये लोक और लोकपाल तो बन गये, अब इनके लिए अन्न का सर्जन करूँ ।।१ ।।[2]

उसने जलों को तपाया। उन तपे हुए जलों में से मूर्त्ति (मूर्त भोग्य वस्तु) उत्पन्न हुई। जो वह मूर्त्ति उत्पन्न हुई, वही अन्न

---

१. तमशनायापिपासे अब्रूताम् आवाभ्याम् अभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीद् एतास्वेव वां देवतास्वाभजामि, एतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद् यस्यै कस्यै देवतायै हविर्गृह्यते, भागिन्यावेव अस्याम् अशनायापिपासे भवतः ।।५ ।।

२. स ईक्षत, इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च, अन्नमेभ्यः सृजा इति ।।१ ।।

था ॥२ ॥[१]

वह रचा हुआ अन्न भोक्ता से दूर भागने लगा। भोक्ता ने उसे वाणी से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे वाणी से नहीं पकड़ सका। यदि वह इसे वाणी से पकड़ लेता, तो अन्न का वाणी से वर्णन करके ही तृप्त हो जाता ॥३ ॥[२]

तब भोक्ता ने उसे प्राण से (नासिका-वायु से) पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे प्राण से नहीं पकड़ सका। यदि उसे प्राण से पकड़ लेता, तो अन्न पर साँस खींचकर ही तृप्त हो जाता ॥४ ॥[३]

तब भोक्ता ने उसे आँख से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे आँख से नहीं पकड़ सका। यदि उसे आँख से पकड़ लेता, तो अन्न को आँख से देखकर ही तृप्त हो जाता ॥५ ॥[४]

तब भोक्ता ने उसे श्रोत्र से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे श्रोत्र से नहीं पकड़ सका। यदि उसे श्रोत्र से पकड़ लेता, तो अन्न के विषय में कान से सुनकर ही तृप्त हो जाता ॥६ ॥[५]

तब भोक्ता ने उसे त्वचा से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे त्वचा से नहीं पकड़ सका। यदि उसे त्वचा से पकड़ लेता, तो अन्न को त्वचा से छूकर ही तृप्त हो जाता ॥७ ॥[६]

तब भोक्ता ने उसे मन से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे मन से नहीं पकड़ सका। यदि उसे मन से पकड़ लेता, तो अन्न का मन से विचार करके ही तृप्त हो जाता ॥८ ॥[७]

---

१. सोऽपोऽभ्यतपत्, ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायत, अन्नं वैतत् ॥ २ ॥
२. तदेनद् अभिसृष्टं पराङ् अत्यजिघांसत्। तद् वाचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोद् वाचा ग्रहीतुम्। स यद्वाचाऽग्रहैष्यद् अभिव्याहृत्य हैवान्नम् अत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥
३. तत् प्राणेनाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत् प्राणेनाग्रहैष्यद्, अभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥
४. तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्, दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥
५. तच्छ्रोत्रेणाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यत्, श्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥
६. तत् त्वचाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोत् त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्वैनत् त्वचाऽग्रहैष्यत्, स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥
७. तन्मनसाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्, ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

तब भोक्ता ने उसे शिश्न से पकड़ना चाहा, किन्तु वह उसे शिश्न से नहीं पकड़ सका। यदि उसे शिश्न से पकड़ लेता, तो अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाता॥ ९ ॥[1]

तब भोक्ता ने उसे अपान से (मुखद्वार के बाहर से अन्दर को जाने वाले वायु से) पकड़ना चाहा, तब उसने उसे पकड़ लिया। यह जो मुखद्वार का वायु है, वही अन्न को पकड़नेवाला, अन्दर ले जानेवाला है। इसका नाम 'वायु'[2] इसी कारण है, क्योंकि यह अन्न को ग्रहण करनेवाला है॥ १० ॥[3]

व्याख्या

इस कथा से यह विदित होता है कि शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय को अपना-अपना कार्य करने के लिए बनाया गया है। उनमें से कोई भी दूसरे का काम नहीं कर सकती। अन्न ग्रहण करने के लिए परमात्मा ने 'अपान' बनाया है। अपान बाहर से अन्दर की ओर जानेवाले वायु का नाम है और प्राण अन्दर से बाहर की ओर जानेवाले वायु को कहते हैं।

आत्मा का शरीर में प्रवेश

आत्मा ने सोचा कि यह शरीर मेरे बिना कैसे रह सकेगा? अतः मुझे इसमें प्रवेश करना चाहिए। वह सोचने लगा कि किस मार्ग से प्रवेश करूँ? फिर उसने विचार किया—यदि बोलना वाणी से हो जाता, यदि साँस लेना प्राण से हो जाता, यदि देखना आँख से हो जाता, यदि सुनना श्रोत्र से हो जाता, यदि स्पर्श त्वचा कर लेती, यदि चिन्तन मन कर लेता, यदि अन्न-ग्रहण अपान कर लेता, यदि विसर्जन शिश्न कर लेता, तो फिर मैं कौन हूँ? मेरी क्या स्थिति है॥ १० ॥[4] मेरे द्वारा ही तो ये सब अपना-अपना काम करते हैं।

---

१. तच्छिश्नेनाऽजिघृक्षत्। तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाऽ ग्रहैष्यद्, विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥९॥

२. वा=अन्न, आयु=ग्रहण करनेवाला (इण् गतौ)।

३. तदपानेनाजिघृक्षत्, तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद् वायुः। अन्नमायुर्वा एष यद् वायुः॥१॥

४. स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति। स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत, यदि वाचाऽभिव्याहृतम्, यदि प्राणेनाभिप्राणितम्, यदि चक्षुषा दृष्टम्, यदि श्रोत्रेण श्रुतम्, यदि त्वचा स्पृष्टम्, यदि मनसा ध्यातं, यद्यपानेनाभ्यपानितं, यदि शिश्नेन विसृष्टम्, अथ कोऽहमिति॥१०॥

यह सोचकर सिर में विद्यमान ब्रह्मरन्ध्र की सीमा को फाड़कर उस मार्ग से वह शरीर में प्रविष्ट हो गया। इस ब्रह्मरन्ध्र के द्वार का नाम 'विदृति'[1] है, क्योंकि आत्मा उसे फाड़कर उसके द्वारा प्रविष्ट हुआ था। इस द्वार को 'नान्दन'[2] भी कहते हैं, क्योंकि यह मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करानेवाला द्वार भी है। इसी मार्ग से उत्क्रान्त होकर जीवात्मा मुक्ति प्राप्त करता है। उसके तीन आवसथ[3] (निवासस्थान) हैं, एक 'इन्द्रियाँ', जब यह ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानग्रहण और कर्मेन्द्रियों से कर्म कर रहा होता है; दूसरा 'मन', जब यह चिन्तन कर रहा होता है, तीसरा 'हृदय', जब यह आनन्द प्राप्त कर रहा होता है। उसके तीन स्वप्न[4] हैं, अर्थात् त्रिविध विचार हैं, एक जगत् सम्बन्धी विचार, दूसरे शरीरसम्बन्धी विचार, तीसरे परमात्मासम्बन्धी विचार॥ १२ ॥[5]

आत्मा द्वारा ब्रह्म-दर्शन

जब आत्मा ने शरीर में जन्म लिया, तब उसने अनेक भूतों को, जड़-चेतन पदार्थों को देखा। वह सोचने लगा कि क्या यह जगत् किसी अन्य के विषय में बोल-बोलकर नहीं बता रहा है? उसने इस सारे संसार में परम पुरुष ब्रह्म को फैला हुआ देखा। उसने कहा कि इस ब्रह्म को जगत् के संचालकरूप में मैंने देख लिया है—**'इदम् अदर्शम्'**[6] ॥ १३ ॥

क्योंकि उसने **'इदम् अदर्शम्'** कहा, इस कारण उसका नाम 'इदन्द्र' पड़ गया। 'इदन्द्र' को ही 'इन्द्र' कहने लग गये, क्योंकि विद्वान् लोग 'परोक्षप्रिय' होते हैं, अर्थात् व्याकरण से जो सीधा

---

१. 'वि' उपसर्ग, दृ विदारणे, क्तिन् प्रत्यय।
२. नदि समृद्धौ, आनन्दित होना। नन्दति अनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन् ब्रह्मणि—शंकर।
३. शंकर के मत में तीन आवसथ हैं—जागरित अवस्था में दक्षिण चक्षु, स्वप्नकाल में अन्तर्मन और सुषुप्तिकाल में हृदयाकाश। दूसरा विकल्प उसने यह दिया है कि तीन आवसथों से आशय है पितृशरीर, मातृशरीर और स्वशरीर।
४. शंकर के अनुसार तीन स्वप्न हैं जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति।
५. स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वाः, तदेतन्नान्दनः। तस्य त्रय आवसथाः, त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥१२॥
६. स जातो भूतान्यभिव्यैक्षत् किमिहान्यं वावदिषदिति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यद् इदमदर्शमिति॥१३॥

शब्द बन रहा होता है, वैसा न बोलकर रहस्यमय-सा कर देते हैं, जिससे उसमें छिपे अर्थ की साक्षात् प्रतीति नहीं होती।[१] ऐसा वे इसलिए करते हैं कि चिन्तनशील को ही रहस्यार्थ का बोध हो सके॥१४॥

द्वितीय अध्याय

पुरुष के तीन जन्म

आरम्भ में पुरुष के अन्दर ही गर्भ होता है, यह जो शरीर में वीर्य का स्थित रहना है, यही गर्भ है। यह वीर्य सब अङ्गों का तेज है, इसके द्वारा पुरुष अपने अन्दर ही किसी आत्मा को गर्भरूप में धारण करता है। उस (आत्मासहित) वीर्य को जब वह स्त्री के अन्दर सिक्त करता है, तब स्वयं को जन्म देता है। यह इसका **प्रथम जन्म** है[२]॥१॥

पुरुष का वह वीर्य स्त्री के शरीर का भाग बन जाता है, जैसे उसके अपने अङ्ग होते हैं, वैसा ही हो जाता है। इस कारण वह स्त्री को हानि नहीं पहुँचाता। स्त्री अपने उस अङ्गभूत वीर्य को पालती-पोसती है[३]॥२॥ वीर्य का पालन-पोषण करनेवाली उस स्त्री का भी पालन-पोषण-रक्षण किया जाना चाहिए। स्त्री उस गर्भ को अपने अन्दर धारण करके बढ़ाती है। वह गर्भस्थ कुमार का जन्म से पहले रक्षण-पोषण करती है। उसका ऐसा करना आत्मा का ही रक्षण-पोषण करना है। गर्भस्थ शिशु का रक्षण-पोषण करके वह मनुष्यों की सन्तति को बढ़ाती है। जब गर्भस्थ शिशु माता के उदर से बाहर आता है, तब पुरुष का **द्वितीय जन्म** होता है[४]॥३॥

---

१. तस्मादिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम, तमिदन्द्रं सन्तम् इन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥१४॥

२. पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद् रेतः, तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतम्। आत्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदा स्त्रियां सिञ्चति अथ एनज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म॥१॥

३. तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्य एतमात्मानम् अत्रगतं भावयति॥२॥

४. सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति आत्मानमेव एतद् भावयति। एषां लोकानां सन्तत्या, एवं सन्तता हीमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म॥३॥

यह जन्मा हुआ आत्मा पुण्य कर्म करने के लिए पिता का प्रतिनिधि बनता है। तब पुरुष का दूसरा अपना आत्मा कर्त्तव्यों का निर्वाह करके कृतकृत्य होकर वृद्ध हुआ-हुआ इस लोक से विदा होता है। वह इहलोक से प्रयाण करके पुनः जन्म लेता है। यह पुरुष का **तृतीय जन्म** होता है ।।४ ।।[१]

व्याख्या—जिस आत्मा ने जन्म लेना होता है, वह किसी मार्ग से पुरुष के शरीर में प्रवेश करके उसके वीर्य में स्थित हो जाता है। पुरुष उस जन्म लेनेवाले आत्मासहित अपने वीर्य का स्त्री में आधान करता है। तब स्त्री के रज और पुरुष के वीर्य तथा आत्मा से मिलकर जो जीवित पिण्ड बनता है, वह पुरुष का प्रथम जन्म है। दस मास गर्भ में वास करने के अनन्तर जब वह माता के गर्भ से बाहर आता है, तब पुरुष का द्वितीय जन्म होता है। फिर पुरुष-शरीर के वृद्ध हो जाने पर जब उसका अपना आत्मा शरीर से निकलकर पुनः जन्मधारण करता है, तब पुरुष का तृतीय जन्म होता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रथम और द्वितीय जन्म में वीर्य तो पुरुष का है, किन्तु आत्मा पुरुष का अपना नहीं है, बाहर से आया हुआ है ? तृतीय जन्म में आत्मा पुरुष का अपना है॥

अनेक जन्मों की परम्परा

पुरुष या आत्मा के ये तीन ही जन्म नहीं हैं, जन्म-मरण की परम्परा चलती रहती है और जीवात्मा नये-नये जन्म धारण करता रहता है। जैसे कर्म-संस्कार होते हैं, उनके अनुसार वह भिन्न-भिन्न शरीरों में जन्म लेता रहता है। प्रायः जीवात्माओं को अपना यह जन्म-वृत्तान्त विस्मृत रहता है, किन्तु किसी-किसी को स्मरण भी रहता है। वामदेव ऋषि को अपने सब जन्मों का वृत्तान्त स्मरण था।

वामदेव ऋषि के उद्‌गार

वामदेव ऋषि ने माता के गर्भ में रहते हुए ही अपने सब जन्मों को जान लिया था। वह ऋग्वेद के एक मन्त्र (ऋग्० ४।२७।१) में कह रहा है—''गर्भ में निवास करते हुए ही मैंने

---

१. सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। तदस्य तृतीयं जन्म ।।४ ।।

देवों के सब जन्मों को जान लिया था। गर्भ में सौ लोह-पुरियों ने, अर्थात् गर्भाशय, जरायु, नस-नाड़ी, मांस, मज्जा, अस्थि आदि के अभेद्य दुर्गों ने मुझे बाँधे रखा। दस मास पूर्ण होने पर मैं बाज पक्षी के समान वेग से बाहर आ गया।" मातृगर्भ में शयन करते हुए ही वामदेव ने पूर्वजन्मों की स्मृति से ये उद्‌गार प्रकट किये हैं[१] ॥५॥

वह वामदेव ऋषि इस शरीर-त्याग के पश्चात् उत्क्रान्त होकर मुक्तिधाम में जाकर सब कामनाओं को पूर्ण करके अमर हो गया[२] ॥६॥ ऐसे ही हम भी अमर हो सकते हैं।

तृतीय अध्याय

आत्मा कौन है?

प्रश्न—यह कौन है, जिसे हम आत्मा नाम से उपासते हैं? वह आत्मा कौन-सा है, जिससे मनुष्य रूप देखता है, जिससे शब्द सुनता है, जिससे गन्ध सूँघता है, जिससे वाणी बोलता है, जिससे स्वादु और अस्वादु का बोध करता है ॥१॥[३]

उत्तर—देखो, यह जो 'हृदय' है, 'मन' है, 'संज्ञान', 'आज्ञान', 'विज्ञान', 'प्रज्ञान' है, 'मेधा', 'दृष्टि', 'धृति', 'मति', 'मनीषा' है, 'जूति' है, 'स्मृति' है, 'संकल्प' है, 'क्रतु' है, 'असु' है, 'काम' है, 'वश' है, ये सब प्रज्ञानस्वरूप आत्मा के ही नाम हैं[४] ॥२॥

मनुष्य का हृदय शरीर में रक्तसंचालन का कार्य करता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा ही रक्तसंचालक है, अतः उसका नाम हृदय

---

१. तदुक्तम् ऋषिणा—"गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानिं विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नध श्येनो जवसा निरदीयम् (ऋग्० ४।२७।१)" इति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥५॥

२. स एवं विद्वान् अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वम् उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्॥६॥

३. कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा येन वा रूपं पश्यति, येन या शब्दं श्रृणोति, येन वा गन्धान् आजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥१॥

४. तदेतद् हृदयं मनश्चैतत्, संज्ञानम् आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥२॥

है। मन चिन्तन करता है, पर वस्तुतः आत्मा ही चिन्तन करनेवाला है, मन चिन्तन का साधन है, अतः आत्मा की नाम 'मन' है। सम्यक् ज्ञान करानेवाला आत्मा ही है, अतः उसका नाम 'संज्ञान' है। चारों ओर से ज्ञान को एकत्र करनेवाला होने से आत्मा ही 'आज्ञान' है। विशेष ज्ञान का हेतु होने से उसी का नाम 'विज्ञान' है। प्रकृष्ट ज्ञान का साधक होने से वही 'प्रज्ञान' है। धारणावती बुद्धि का जनक होने से उसी का नाम 'मेधा' है। दृष्टिदाता तथा धृतिदाता होने से उसी को 'दृष्टि' और 'धृति' कहते हैं। मननकर्त्ता होने से वही 'मति' कहलाता है। मन पर प्रभुत्व रखने के कारण उसी को 'मनीषा' कहते हैं। कार्यों में वेग लाने के कारण वही 'जूति' कहलाता है (जु गतौ)। स्मृति का कर्त्ता होने से वही 'स्मृति' कहलाता है। सङ्कल्प का कर्त्ता होने से उसी का नाम 'संकल्प' भी है। क्रियाशील होने से वह 'क्रतु' कहाता है। प्राण-व्यापार करानेवाला होने से वही 'असु' कहाता है। कामनाओं का कर्त्ता होने से उसी को 'काम' कहते हैं। सब इन्द्रियों को वश में रखने के कारण उसी का नाम 'वश' है।

तो, शिष्यो! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा शरीर में एक अजर-अमर तत्त्व है, उसी से आँख रूप देखती है, उसी से कान शब्द सुनते हैं, उसी से नासिका गन्ध सूँघती है, उसी से वाणी शब्द बोलती है, उसी से मनुष्य स्वादु और अस्वादु का बोध करता है। शरीर में अन्य भी जो कार्य हो रहे हैं, उन सबका कर्त्ता वह आत्मा ही है।

परम आत्मा ब्रह्म

अब एक अन्य आत्मा का वर्णन करते हैं, वह परम आत्मा है, उसे ब्रह्म कहते हैं। वही 'इन्द्र' कहलाता है, वही 'प्रजापति', वही 'मित्र', 'वरुण' आदि सब देवों के नाम से पूजित होता है। ये जो पञ्चमहाभूत हैं पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, ये उसी के शासन में रहते हैं। ये अन्य जो क्षुद्रजन्तु मच्छर, चींटी आदि हैं, और जो मिश्र, अर्थात् मिले-जुले सर्प, नेवला आदि हैं, और जो अण्डज पक्षी आदि, जरायुज मनुष्य आदि, स्वेदज जूँ आदि, उद्भिज्ज वृक्ष-वनस्पति आदि हैं, वे सब भी उसी के नियमों में चलते हैं। और जो घोड़े, गाय, पुरुष, हाथी तथा अन्य भी जो चलने-फिरनेवाले, उड़नेवाले और स्थावर हैं, वे सब उसी प्रज्ञामय ब्रह्म का नेतृत्व पाते हैं। वे सब उसी प्रज्ञानमय ब्रह्म के आश्रय

से प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण लोक उसी प्रज्ञामय ब्रह्म के नेतृत्व में चलता है। प्रज्ञामय ब्रह्म ही सबकी प्रतिष्ठा है, सबका आश्रय है। ब्रह्म 'प्रज्ञान' है, सब प्रज्ञानों से युक्त तथा प्रज्ञान करानेवाला है ॥३ ॥[१]

वामदेव ऋषि (प्रज्ञान ब्रह्म को जानकर) अपने प्रज्ञ आत्मा, अर्थात् ज्ञानी जीवात्मा द्वारा इस लोक से प्रयाण करके उस मोक्षलोक में पहुँचकर सब कामनाओं को पूर्ण करके अमर हो गया था, अमर हो गया था। (इसी प्रकार अन्य लोग भी अमर हो सकते हैं) ॥४ ॥

शान्तिपाठ

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनोते मे वाचि प्रतिष्ठित-माविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणी स्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु, तद् वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तार-मावतु वक्तारम्। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, अर्थात् वाणी से वही बोलूँ, जो मन से सुविचारित हो। मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो, अर्थात् मन से जो सुविचार करूँ, उसे वाणी द्वारा बोलूँ भी। हे परमात्मन्, आप मेरे सम्मुख आविर्भूत होवो। हे वाणी और मन! तुम दोनों मेरे ज्ञानरूप पहिये को चलानेवाले कीले हो। मेरा सुना हुआ शास्त्र मुझे मत छोड़े, अर्थात् श्रुत शास्त्र को भूलूँ नहीं। इस अधीत शास्त्र में दिन-रात एक कर देता हूँ। मैं व्रत लेता हूँ कि ऋत बोलूँगा, सत्य बोलूँगा। वह मुझे प्राप्त हो, मुझ वक्ता की रक्षा करे। वक्ता की रक्षा करे।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

---

१. एष ब्रह्म, एष इन्द्रः एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषि इत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानि इतराणि चेतराणि चाण्डजानि च! जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो, यत् किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्, प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा। प्रज्ञानं ब्रह्म ॥३ ॥

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्"—त्रैत दर्शन के परिप्रेक्ष्य में इसकी व्याख्या कीजिए।

२. परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में रचित लोकों का वर्णन कीजिए।

३. परमात्मा द्वारा रचित बाह्य तथा देहस्थ लोकपालों का उपनिषद् की शैली से वर्णन कीजिए।

४. बाह्य अग्नि, वायु, आदित्य आदि क्या बनकर शरीर के किस अङ्ग में प्रविष्ट हुए?

५. ऐतरेय उपनिषद् की शैली से पुरुष-शरीर का वैशिष्ट्य वर्णित कीजिए।

६. भूख-प्यास सब देवताओं में सहभागी हैं। स्पष्ट कीजिए।

७. अन्न की उत्पत्ति तथा उसके भोग का वर्णन कीजिए।

८. आत्मा का शरीर में प्रवेश क्यों और कैसे हुआ?

९. आत्मा का नाम 'इन्द्र' क्यों पड़ा?

१०. पुरुष के तीन जन्म कौन-से हैं? स्पष्ट कीजिए।

११. वामदेव ने गर्भ में ही अपने अनेक जन्म कैसे जाने?

१२. आत्मा कौन है? उसके विविध नामों का उल्लेख कीजिए।

१३. उपनिषद् के अनुसार परब्रह्म का निरूपण कीजिए।

१४. उपनिषद् के शान्तिपाठ का मर्म समझाइये।

१५. ऐतरेय उपनिषद् कहाँ से ली गई है? इसका रचयिता कौन है?

ओ३म्

८. तैत्तिरीयोपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध है। यह तैत्तिरीय आरण्यक से ली गयी है। इस आरण्यक के प्रपाठक ७,८ और ९ ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहलाते हैं। यह तीन वल्लियों में विभक्त है—शिक्षावल्ली, ब्रह्मवल्ली और भृगुवल्ली। शिक्षावल्ली वर्णोच्चारण-शिक्षा से प्रारम्भ होती है और विद्यार्थी के स्नातक बनते समय आचार्य द्वारा दिये जानेवाले उपदेश से इसकी समाप्ति होती है। मध्य में शिक्षासम्बन्धी अन्य विषय हैं। इस वल्ली में ११ अनुवाक हैं। ब्रह्मवल्ली में ब्रह्म से सम्बद्ध अध्यात्मचर्चा है तथा अन्त में ब्रह्मानन्द की मीमांसा की गयी है। यह ९ अनुवाकों में समाप्त होती है। भृगुवल्ली में सर्वप्रथम भृगु तथा उसके पुत्र वरुण का रोचक अध्यात्म संवाद है, जिसे 'भार्गवी वारुणी विद्या' कहा जाता है। तदनन्तर अन्न-व्रत, मानुषी समाज्ञा, दैवी समाज्ञा, नमः, सामगान तथा ब्रह्म का आत्म-परिचय है। इस वल्ली में १० अनुवाक हैं।

१. शिक्षावल्ली

प्रथम अनुवाक (शान्ति-मन्त्र)

ओ३म् शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः। शं नो॑ भवत्वर्य॒मा।
शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पतिः॑। शं नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः।
नमो॒ ब्रह्म॑णे। नम॑स्ते वायो। त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि।
त्वामे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्म॑ वदिष्यामि। ऋ॒तं व॑दिष्यामि।
स॒त्यं व॑दिष्यामि। तन्माम॑वतु। तद्व॒क्तार॑मवतु।
अव॑तु माम्। अव॑तु व॒क्तार॑म्॥ ओं शान्ति॒ः शान्ति॒ः शान्ति॒ः॥

गुरु-शिष्य मिलकर अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व इस मन्त्र का पाठ करते हैं।

"सबका मित्र परमेश्वर हमें शान्ति दे। पापनिवारक, वरणीय वरुण परमेश्वर शान्ति दे। श्रेष्ठों का मान करनेवाला अर्यमा परमेश्वर हमें शान्ति दे। विशाल लोकों का पति ऐश्वर्यशाली इन्द्र परमेश्वर हमें शान्ति दे। विस्तृत व्यवस्थावाला सर्वव्यापी विष्णु परमेश्वर हमें शान्ति दे। ब्रह्म के लिए नमस्कार हो। हे सर्वगत

वायु नामक परमेश्वर, आपको नमस्कार हो। हे परमेश्वर, आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। आपको ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। सत्याचरण की बात बोलूँगा। सत्य बोलूँगा। वह मेरी रक्षा करे। वह वक्ता की रक्षा करे। मेरी पालना करे, वक्ता की पालना करे।"[१]

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

शारीरिक शान्ति, आत्मिक शान्ति, सामाजिक शान्ति।

द्वितीय अनुवाक (शिक्षाध्याय)

अब हम शिक्षा की व्याख्या करेंगे। 'वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान' इसे शिक्षाध्याय कहते हैं।[२]

जब बालक वेदाध्ययन के लिए आचार्य के समीप जाता है, तब सर्वप्रथम उसे वर्ण, स्वर आदि का ज्ञान कराना अपेक्षित होता है, क्योंकि वर्णोचारण-शिक्षा आदि के प्राथमिक ज्ञान के बिना वह वेदमन्त्रोच्चारण तथा वेदार्थज्ञान नहीं कर सकता।

१. वर्ण—संस्कृत वर्णमाला में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ ये स्वर या अच् कहलाते हैं। आ, ई, ऊ, ॠ ये दीर्घरूप हैं। ऌ दीर्घ नहीं होता, किन्तु कुछ आचार्य दीर्घ ॡ भी स्वीकार करते हैं। ए, ऐ, ओ, औ संयुक्ताक्षर हैं (अ+इ=ए, आ+इ=ए, अ+ई=ए, आ+ई=ए। अ+ए=ऐ, आ+ए=ऐ। अ+उ=ओ, आ+उ=ओ, अ+ऊ=ओ, आ+ऊ=ओ। अ+ओ=औ, आ+ओ=औ)। इनके अतिरिक्त कवर्गादि व्यञ्जन या हल् कहलाते हैं। **कवर्ग**=क, ख, ग, घ, ङ। **चवर्ग**=च, छ, ज, झ, ञ। **टवर्ग**= ट, ठ, ड, ढ, ण। **तवर्ग**=त, थ, द, ध, न। **पवर्ग**=प, फ, ब, भ, म। शेष व्यञ्जन य, र, ल, व, श, ष, स, ह होते हैं। अन्य वर्ण अनुस्वार (ं), विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (ᳵक, ᳵख) तथा उपध्मानीय (ᳵप, ᳵफ) कहलाते हैं। अनुनासिक (ँ) वर्ण भी होता है, जिसका उच्चारण मुख और नासिका से मिलकर होता है।

---

१. मेद्यति स्निह्यति यः स मित्रः (ञिमिदा स्नेहने)। वारयति पापेभ्यः, व्रियते इति वा यः स वरुणः। अर्यान् श्रेष्ठान् मानयति यः सः अर्यमा। बृहतां लोकानां पतिः बृहस्पतिः। इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति यः सः इन्द्रः। उरुः महान् क्रमः व्यवस्था यस्य स उरुक्रमः। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगद् यः स विष्णुः। वाति सर्वत्र गच्छतीति वायुः। बृहत्वाद् ब्रह्म।

२. ओं शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलं, साम, सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। (१।२)। (यहाँ 'शीक्षा' में दीर्घ छान्दस है)।

वर्णों का उच्चारण-स्थान तथा प्रयत्न भी जानना अपेक्षित होता है। अ, कवर्ग, ह तथा विसर्ग का उच्चारण-स्थान कण्ठ है। इ, चवर्ग, य और श तालु से बोले जाते हैं। ऋ, टवर्ग, र और ष का स्थान मूर्धा है। लृ, तवर्ग, ल और स का स्थान दन्त है। उ, पवर्ग और उपध्मानीय का स्थान ओष्ठ एवं ञ, म, ङ, ण, न का स्थान नासिका है। ए और ऐ कण्ठ एवं तालु से उच्चारित होते हैं। ओ और औ का स्थान कण्ठ एवं ओष्ठ हैं। व का स्थान दन्त तथा ओष्ठ है। जिह्वामूलीय जिह्वामूल से उच्चारित होते हैं। अनुस्वार का स्थान नासिका है।

२. स्वर

पातञ्जल महाभाष्य में स्वरों की संख्या सात गिनायी गयी है—उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित से पूर्व का उदात्त और एकश्रुति।[१] एकश्रुति का दूसरा नाम प्रचय भी है, परन्तु इन सातों स्वरों में प्रमुख स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ही हैं, जिनका वेदार्थ पर भी प्रभाव पड़ सकता है। सस्वर वेदपाठ में सभी स्वर काम आते हैं।

उदात्त वर्ण के उच्चारण में शरीरावयवों या उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन, शब्द की तीक्ष्णता एवं रूक्षता तथा कण्ठ का संकोच होता है।[२] अनुदात्त के उच्चारण में शरीरावयवों एवं उच्चारणावयवों की शिथिलता, शब्द की मृदुता एवं कण्ठबिल का विस्तार होता है।[३] स्वरित के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त के गुणों का मेल रहता है।[४] स्वरित के उच्चारण में पूर्व आधी मात्रा उदात्त बोली जाती है, शेष अनुदात्त। यथा ह्रस्व स्वरित में पूर्व आधी मात्रा उदात्त और शेष आधी मात्रा अनुदात्त। दीर्घ स्वरित में पूर्व आधी मात्रा उदात्त, शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त। प्लुत स्वरित में पूर्व आधी मात्रा उदात्त, शेष ढाई मात्रा अनुदात्त।[५]

---

१. सप्त स्वरा भवन्ति-उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः। महा० १।२।३३

२. उच्चैरुदात्तः। —अ० १।२।२९ आयामो दारुण्यम् अणुता खस्य-इत्युच्चैःकरणि शब्दस्य। —महा० १।२।२९

३. नीचैरनुदात्तः। —अ० १।२।३०। अन्ववसर्गो मार्दवम् उरुता खस्य-इति नीचैःकराणि शब्दस्य। —महा० १।२।३०

४. समाहारः स्वरितः। —अ० १।२।३१

५. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्। —अ० १।२।३२

कुछ शब्दों में स्वरभेद से अर्थभेद भी हो जाता है। जैसे आद्युदात्त क्षय शब्द का अर्थ निवासगृह होता है, किन्तु अन्तोदात्त क्षय शब्द विनाशवाचक होता है।[1] 'जीतने का साधन' इस अर्थ में जय शब्द आद्युदात्त होता है, किन्तु विजय अर्थ में अन्तोदात्त।[2]

उदात्तादि स्वरों के अतिरिक्त सामगान में काम आनेवाले सात अन्य स्वर भी हैं—मध्यम, गान्धार, ऋषभ, षड्ज, धैवत, निषाद और पञ्चम। इन्हें सामवेदी लोग क्रमशः प्रथम, द्वितीय तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, क्रुष्ट और अतिस्वार्य भी कहते हैं।[3] वेदपाठी तथा वेदज्ञ होने के लिए उदात्तादि तथा मध्यमादि दोनों प्रकार के स्वरों का ज्ञान उपयोगी है।

३. मात्रा

ह्रस्व वर्ण की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्राएँ और प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं। संयुक्ताक्षर परे होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व वर्ण भी गुरु माना जाता है, अतः वह द्विमात्रिक कहलाता है। अनुस्वारान्त और विसर्गान्त और व्यञ्जनान्त वर्ण भी गुरु होने से द्विमात्रिक माना जाता है, यथा अं, अः, अम्। मात्राएँ अचों की ही होती हैं, व्यञ्जनों की नहीं। यथा अ, इ, क, कि, कु सब एकमात्रिक हैं। संयुक्त अच् ए, ऐ, ओ, औ दो-दो मात्रावाले होते हैं। वर्णों के साथ ह्रस्व या दीर्घ मात्रा लगाने के प्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं, यथा कि, की, कु, कू, ऋ, ॠ आदि। जिस वर्ण को प्लुत करना होता है, उसके आगे ३ का अंक लिखते हैं, यथा—"अधः स्विदासी ३ द् उपरि स्विदासी ३ त्"। एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के बोलने में कितना-कितना काल लगता है एतदर्थ आचार्य शौनक ने ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि चाष नामक पक्षी (सम्भवतः नीलकण्ठ) की बोली एक मात्रा की, कौए की बोली दो मात्रा की और मोर पक्षी की बोली तीन मात्रा की होती

---

१. क्षयो निवासे। अ० ६।१।२०१ क्षयशब्दो निवासेऽभिधेये आद्युदात्तो भवति। क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षयः। विनाशार्थे अजन्तत्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः।

२. जयः करणम्। अ० ६।१।२०२ जयन्ति तेनेति जयः। जयोऽश्वः। करणमिति किम्? जयो वर्तते ब्राह्मणानाम्। अजन्तत्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः।

३. द्रष्टव्य, नारदीय शिक्षा १।१२, ५।१-२

है।[1] मात्रा का ज्ञान शुद्ध वेदपाठ करने में सहायक है।

४. बल

बल का अर्थ शङ्कराचार्य ने 'प्रयत्न-विशेष' किया है जब मनुष्य को बोलने की इच्छा होती है, तब वह अन्दर से प्राणवायु को प्रेरित करता है। प्राणवायु उर:स्थल से कण्ठ की ओर उठता हुआ कण्ठ से मुख में आता हुआ शब्द उत्पन्न करता है। इसमें जो प्रयत्न लगता है उसे वर्णोच्चारण शिक्षा में बल नाम दिया गया है। संगीत या सामगान में जो स्वरों का आरोह-अवरोह होता है, वह भी बल के अन्तर्गत आता है।

शब्दोच्चारण में प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। इनमें भी आभ्यन्तर प्रयत्न चतुर्विध होता है—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत और संवृत। क से लेकर म तक के वर्णों का स्पृष्ट, य-र-ल-व (अन्तस्थ) वर्णों का ईषत्स्पृष्ट, श-ष-स-र-ह (ऊष्मा) वर्णों का तथा स्वरों का विवृत प्रयत्न होता है। ह्रस्व अ प्रयोग में संवृत तथा प्रक्रियादशा में विवृत रहता है। आभ्यन्तर प्रयत्न वह कहलाता है, जो मुख के अन्दर होता है। जब जिह्वा वर्ण के उच्चारणस्थान को पूरा स्पर्श करती है, तब स्पृष्ट प्रयत्न होता है। जब पूरा स्पर्श न करके न्यून स्पर्श करती है, तब ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है। जब उच्चारणस्थान को जिह्वा द्वारा स्पर्श करके खुले मुखद्वार से वर्ण बाहर निकल जाता है, तब विवृत प्रयत्न होता है। जिस वर्ण के उच्चारण में मुखकुहर अपेक्षाकृत संकीर्ण रहता है, उसका आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत कहलाता है। बाह्य प्रयत्न मुख से बाहर, अर्थात् कण्ठबिल में होता है। यह सामान्यत: आठ प्रकार का है—विवार, श्वास, अघोष, संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण। जिन वर्णों के उच्चारण में कण्ठबिल या कण्ठ की स्वरतन्त्रियों के खुला रहने से अन्दर से उठा हुआ श्वास सीधा निकल जाता है, परिणामत: घोष की उत्पत्ति नहीं होती, उनका बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष होता है। ये श, ष, स, अ:, क, प, अं तथा प्रत्येक वर्ग के प्रथम-द्वितीय अक्षर क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ होते हैं। वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम अक्षर तथा ह, य, व, र, ल संवार, नाद, घोष कहलाते हैं। इनके

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।
शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रापरिग्रह:॥ —ऋ० प्रा० १३।५०

उच्चारण में कण्ठ की स्वरतन्त्रियाँ संकुचित होने से शब्द टकराता हुआ निकलने से घोष की उत्पत्ति होती है। अल्पप्राण वर्ण कहलाते हैं, वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पंचम अक्षर और य, व, र, ल। वर्गों के द्वितीय एवं चतुर्थ अक्षर तथा श, ष, स, ह महाप्राण कहलाते हैं।[१]

५. साम

'साम' का अर्थ समता है। शङ्कराचार्य ने वर्णों के मध्यम वृत्ति से उच्चारण को 'समता' कहा है।[२] वृत्तियाँ तीव्र होती हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। अभ्यास-काल में द्रुत वृत्ति का, प्रयोग-काल में मध्यम वृत्ति का और शिष्यों को उपदेश करने में विलम्बित वृत्ति का उपयोग किया जाता है।[३] अतः वर्णसमूहात्मक शब्द, वाक्यखण्ड, वाक्य एवं वेदमन्त्रों के उच्चारण में सामान्यदशा में समता या मध्यम वृत्ति रखना ही उचित होता है। इसके अतिरिक्त उदात्त, अनुदात्त, स्वरित पूर्वक उच्चारण न करके एकश्रुति से मन्त्रोच्चारण करने को भी साम या समता कहते हैं। यज्ञ में मन्त्र एकश्रुति से ही बोले जाते हैं।[४] शिष्य को इस साम-प्रयोग का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः इसे भी शिक्षा का अङ्ग कहा गया है।

६. सन्तान

'सन्तान' से शङ्कराचार्य ने संहिता[५] अर्थ लिया है। सन्तान शब्द सम् उपसर्गपूर्वक विस्तारार्थक 'तन' धातु से बनता है, अतः इसका शाब्दिक अर्थ विस्तार है। वर्णज्ञान, स्वरज्ञान, मात्राज्ञान, बलाबल-ज्ञान और समस्वरता के ज्ञान के पश्चात् सन्तान, अर्थात् संहिता-ज्ञान आवश्यक होता है। वेदों में जिस रूप में मन्त्र लिखे रहते हैं, वह मन्त्र-संहिता कहलाती है। ऋक्प्रतिशाख्य में इसे निर्भुज[१] संहिता नाम दिया गया है। इसमें शब्दों के मध्य दीर्घ-

---

१. वर्णों के स्थान एवं प्रयत्न के ज्ञानार्थ ऋक्प्रातिशाख्य, सिद्धान्तकौमुदी संज्ञाप्रकरण सूत्र १०,११,१२, काशिका १।१।९ एवं वर्णोच्चारणशिक्षा तथा आधुनिक भाषाविज्ञान के ग्रन्थ अवलोकनीय हैं।

२. साम वर्णानां मध्यमवृत्त्योच्चारणं, समता—शङ्कर।

३. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥ —याज्ञवल्क्यशिक्षा १।५२

४. यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु। —अथर्व० १।२।३४

५. सन्तानः सन्ततिः संहितेत्यर्थः—शङ्कर।

एकादेश-सन्धि, पूर्वरूप-सन्धि, पररूप-सन्धि, यण्-सन्धि, अयादेश-सन्धि, अवादेश-सन्धि, ओकार-सन्धि आदि सब सन्धियाँ कर दी जाती हैं। सन्धि करने पर क्वचित् उदात्तादि स्वर भी परिवर्तित हो जाते हैं। उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है, यदि उस अनुदात्त से परे उदात्त या स्वरित न हो। इस निर्भुज संहिता से अतिरिक्त एक पदपाठ-संहिता होती है। इसमें प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् रहता है। पाठ के समय शब्दों के मध्य में एकमात्रा-काल के बराबर विराम करना होता है। 'समस्त' शब्दों में जितने मूल शब्द हों उन्हें ऽ चिह्न से जोड़ा जाता है, जिसका आशय होता है कि वहाँ अर्धमात्राकाल का विराम किया जाता है। पदपाठ-संहिता को ऋक्प्रातिशाख्य में 'प्रतृण्ण'[२] संहिता कहा गया है। तीसरी एक क्रमसंहिता भी होती है, जिसकी जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ, घन नामक आठ विकृतियाँ[३] प्रसिद्ध हैं। वेद के अध्येता के लिए सभी संहिताओं का ज्ञान वेद-रक्षा, शुद्ध वेदपाठ, वेदार्थ आदि में सहायक होता है।

उक्त छहों विषय शिक्षाध्याय में आते हैं, जिनकी जानकारी न केवल वेद के विद्यार्थी को, अपितु किसी भी शास्त्र के विद्यार्थी को होनी चाहिए।

तृतीय अनुवाक (संहितोपनिषद्)

गुरु-शिष्य प्रार्थना करते हैं—"हमारा यश साथ-साथ फैले। हमारा ब्रह्मवर्चस साथ-साथ फैले[४]।"

अब संहिता की उपनिषद् को व्याख्यात करेंगे। पाँच अधिकरणों में इसकी व्याख्या होगी—**अधिलोक** (लोकपरक), **अधिज्यौतिष** (ज्योतिपरक), **अधिविद्य** (विद्याग्रहणपरक), **अधिप्रज** (पुत्रोत्पत्ति-परक) और **अध्यात्म** (शरीरपरक)। ये पाँचों महासंहिता कहलाती हैं।[५]

---

१. सन्धेर्विवर्तनं निर्भुजं वदन्ति। —ऋ० प्रा०, विष्णुमित्रवृत्ति ३

२. शौद्धाक्षरोच्चारणं च प्रतृण्णम्। वही

३. जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

४. सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्॥ १॥

५. अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु, अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते॥ २॥

आओ शिष्यो, पहले इनकी तालिका बना लेते हैं, जिससे आसानी से याद हो जाए और व्याख्या करने में भी सुगमता हो सके।

पाँच महासंहिताएँ

नाम	**पूर्वरूप**	**उत्तररूप**	**सन्धि**	**सन्धान**
अधिलोक	पृथिवी	द्यौः	आकाश	वायु
अधिज्यौतिष	अग्नि	आदित्य	आपः	वैद्युताग्नि
अधिविद्य	आचार्य	अन्तेवासी	विद्या	प्रवचन
अधिप्रज	माता	पिता	प्रजा	प्रजनन
अध्यात्म	अधरहनु	उत्तरहनु	वाक्	जिह्वा

पहले **अधिलोक** को लेते हैं। नीचे पृथिवी है, ऊपर द्युलोक है। पृथिवी की 'सतह से बहुत दूर तक का वायुमण्डल पृथिवी में ही संम्मिलित है। इसी प्रकार ऊपर के द्युलोक से लेकर नीचे बहुत दूर तक का क्षेत्र द्युलोक के अन्तर्गत होता है। इन दोनों की सीमाएँ जहाँ मिलती हैं, वह आकाश या अन्तरिक्ष कहाता है। अन्तरिक्ष का भी अपना बड़ा विस्तार है। इसी में बादल बनते हैं, इसी में चन्द्रमा चक्कर काटता है। पृथिवी और द्युलोक का सन्धानकर्त्ता या मिलानेवाला वायु या बाह्य प्राण है। वायु न हो तो पृथिवीलोक और द्युलोक का पारस्परिक सामञ्जस्य समाप्त हो जाए। न बादल बनें, न वर्षा हो, न नदियाँ बहें, न हरियाली रहे, न चाँदनी खिले। यह अधिलोक महासंहिता का वर्णन है।[1]

अब **अधिज्यौतिष** पर आते हैं। अग्नि-ज्योति पूर्वरूप है, आदित्य-ज्योति, उत्तर रूप है। जल सन्धि हैं, जलों में आग्नेय ज्योति और सौर ज्योति दोनों का संगम होता है। ये जल हमारे सौर जगत् के किसी भी लोक में या किसी भी क्षेत्र में हो सकते हैं। बादल, समुद्र, भूगर्भ, हिमालय, सरोवर, स्रोत कहीं के भी जलों की स्थिति पार्थिव अग्नि और सौर अग्नि के संगम के बिना नहीं रह सकती। अग्नि और आदित्य की इस जलरूप सन्धि का सन्धानकर्त्ता है वैद्युत अग्नि। विद्युत्-रूप अग्नि ही पार्थिव अग्नि और सौर अग्नि को मिलाकर जलों में परिणत करता है। यह

---

१. अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्॥ १॥

अधिज्यौतिष महासंहिता है।[१]

अब **अधिविद्य** की चर्चा करें। आचार्य पूर्वरूप है, अन्तेवासी, अर्थात् शिष्य उत्तर रूप है। इन दोनों के मिलने से विद्यारूप सन्धि उत्पन्न होती है। आचार्य का प्रवचन ही इस विद्यारूप सन्धि का सन्धानकर्त्ता होता है। यह अधिविद्य महासंहिता है।[२]

अब **अधिप्रज** की व्याख्या करते हैं। माता पूर्व रूप है, पिता उत्तर रूप है। दोनों के मिलने से प्रजा, अर्थात् सन्तान रूप सन्धि उत्पन्न होती है। इसमें प्रजनन-क्रिया संधायक होती है। यह अधिप्रज महासंहिता है।[३]

अब **अध्यात्म** की प्रस्तुति करते हैं। मुखवर्ती नीचे का जबड़ा पूर्व रूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तर रूप है। दोनों के मिलने से वाक् या शब्दरूप सन्धि उत्पन्न होती है। वाक्-रूप सन्धि को उत्पन्न करने में जिह्वा संधायक का काम करती है। यह अध्यात्म महासंहिता है।[४]

फलश्रुति

ये पाँच महासंहिता वर्णित की गयी हैं। जो मनुष्य व्याख्या की गयी इन महासंहिताओं को जान लेता है और जीवन में इनका प्रयोग करता है, वह प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, अन्नादि भोग्य-पदार्थों से और स्वर्गलोक से जुड़ जाता है, सन्धि को प्राप्त कर लेता है।[५]

इस फलश्रुति की बात को भली-भाँति समझ लो शिष्यो! सन्धि के ज्ञान का और सन्धि को जीवन में घटाने का फल शुभ वस्तुओं से सन्धि प्राप्त कर लेना ही हो सकता है। प्रथम दो

---

१. अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्॥ २॥

२. अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। इत्यधिविद्यम्॥ ३॥

३. अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननं सन्धानम्। इत्यधिप्रजम्॥ ४॥

४. अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्॥ ५॥

५. इतीमा महासंहिताः। य एवमेता महासंहिता व्याख्याता वेद, सन्धीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन॥ ६॥

महासंहिताएँ मानव-जीवन के क्षेत्र की हैं। लोकों में सन्धि और ज्योतियों में सन्धि की चरितार्थता को देखकर मनुष्य अपने जीवन में भी सन्धि को चरितार्थ करना चाहता है। अध्यात्म सन्धि को ही ले-लो। बालक, युवक, वृद्ध, नर-नारी सभी वाक्-सन्धि को प्राप्त करते हैं, वाणी बोलते हैं। व्यक्तवाक् होना मनुष्य की ही विशेषता है, अन्य सब प्राणी अव्यक्तवाक् होते हैं। जिह्वा की सहायता से तथा निचले जबड़े और उपरले जबड़े के योग से मनुष्य वाणी बोलता है। माता, पिता, आचार्य, उपदेशक, संन्यासी आदि वाणी बोलकर ही जिज्ञासुओं को सदुपदेश करते हैं। इस वाक्-सन्धि से मनुष्य के बड़े-बड़े कार्य सिद्ध होते हैं।

फिर देखो विद्या-सन्धि को। बालक शिष्य बनकर आचार्य के पास जाता है। वह आचार्य का अन्तेवासी बनता है, उसके साथ निकट सांनिध्य में निवास करता है। आचार्य प्रवचन के द्वारा उसे विद्यादान करता है। यह विद्या-सन्धि, ज्ञान-विज्ञान की सन्धि राष्ट्रों की उन्नति में बड़ी चामत्कारिक सिद्ध होती है। इसी के बल से कोई राष्ट्र जगद्-गुरु कहला सकता है। संसार में अगणित विद्याएँ हैं, अनन्त ज्ञान हैं। उन सबका आदान-प्रदान होता है, अध्यात्म महासंहिता द्वारा और विकास होता है अधिविद्य महासंहिता द्वारा। ये विद्या एवं ज्ञान-विज्ञान की धाराएँ मानव को प्राप्त न हों, तो मानव-समाज पङ्गु हो जाए, किसी भी दिशा में कुछ भी उन्नति न कर सके।

मानव-क्षेत्र की तीसरी महासंहिता है अधिप्रज। माता और पिता परस्पर मिलकर प्रजनन क्रिया द्वारा समाज एवं राष्ट्र को प्रशस्त प्रजा (सन्तान) उत्पन्न करके देते हैं। प्रशस्त प्रजाओं या नागरिकों से ही सुखी परिवार बनता है, सुखी समाज बनता है, सुखी राष्ट्र बनता है और धरती या विश्व का प्रशस्त, मधुर, सौहार्दपूर्ग वातावरण बनता है।

अत: इन पञ्च महासंहिताओं के ज्ञान से, अभ्यास से, जीवन का अङ्ग बनाने से होनेवाली जो फलश्रुति कही गयी है, उसमें न्यूनोक्ति भले ही हो, अतिशयोक्ति नहीं है। इन महासंहिताओं के आचरण से मनुष्य को प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस, अन्नाद्य, स्वर्गलोक सब-कुछ प्राप्त हो जाता है। जो उत्पन्न हो या उत्पन्न की जाए, उसे 'प्रजा' कहते हैं। उत्कृष्ट सन्तान तो इसका अर्थ है ही, परन्तु

उसके अतिरिक्त मनुष्य द्वारा रचना की जानेवाली अन्य सम्पदाएँ भी इससे गृहीत हो जाती हैं। 'पशु' का अर्थ गाय, घोड़े आदि पशु भी है और मनुष्य-शरीर में वास करनेवाली चक्षु आदि इन्द्रियाँ तथा उनकी शक्तियाँ भी पशु कहलाती हैं। ब्रह्मवर्चस का अर्थ है ब्रह्मतेज, जिसके आगे शारीरिक तेज फीका पड़ जाता है। ब्रह्मतेज के धनी साधु-सन्त पास में कोई भौतिक सम्पत्ति न होने पर भी, महाधनी माने जाते हैं। 'अन्नाद्य' का आशय है भोगयोग्य अन्नादि पदार्थ—**आद्यं च तदन्नम् इति अन्नाद्यम्**। अथवा अन्न खाने की कला—**अन्नम् अत्तीति अन्नादः, अन्नादस्य भावः अन्नाद्यम्**। अन्न खाने की कला से अभिप्राय है, पहले दूसरों को खिलाकर फिर स्वयं खाना। स्वर्गलोक है सुख, आनन्द एवं शान्ति की अवस्था। ये सब वस्तुएँ महासंहिताओं के उपासक को प्राप्त हो जाती हैं।

चौथा अनुवाक

शिष्य की आचार्य से आकांक्षा

जो आचार्य वेदों का पण्डित है, जो सर्वगुणसम्पन्न (विश्वरूप) है, जो वेदों के ज्ञानामृत से उत्पन्न हुआ है, अर्थात् वेद पढ़कर आचार्य बना है, वह ऐश्वर्यशाली आचार्य (इन्द्र) मुझ शिष्य को मेधा से तृप्त करे। हे आचार्य देव, मैं ज्ञानामृत का धारणकर्त्ता बनूँ। मेरा शरीर विशेष तेजस्वी हो। मेरी जिह्वा अतिशय मधुरभाषिणी हो। मैं कानों से बहुत अधिक सुन सकूँ। हे आचार्यवर, आप ज्ञान के खजाने हैं, आप मेधा से युक्त हैं। आप मेरे श्रवण किये हुए शास्त्र को मुझमें रक्षित कीजिए।[1]

आचार्य की आकांक्षा

वेदवाणी मुझे ज्ञान प्राप्त कराये, मेरे अन्दर सद्गुणों का विस्तार करे, मेरे आत्मा को संबल (चीर) प्रदान करे। ब्रह्मचारियों के लिए मेरे पास वस्त्र हों, गौएँ हों, सदा उनके खाने-पीने के लिए अन्न-पान मेरे पास रहें। इन वस्तुओं से मुझे समृद्धि प्राप्त हो,

---

१. यश्छन्दसाम् ऋषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु (स्पृ प्रीतिबलनयोः)। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम् (वि चृष सन्दीपने)। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि, मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥ १ ॥

जिसमें अन्य पशुओं के साथ बालोंवाली भेड़ें भी हों।[१] यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)! मेरे पास ब्रह्मचारी (विद्याध्ययन के लिए) आयें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)। मेरे पास ब्रह्मचारी विविधरूपों में आयें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)। मेरे पास ब्रह्मचारी प्रकृष्टरूप में आयें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)। मेरे पास ब्रह्मचारी आकर इन्द्रियों का दमन करें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो। मेरे पास ब्रह्मचारी शान्तिलाभार्थ आयें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)॥ २॥[२]

मैं जनों के बीच में यशस्वी बनूँ, मेरी यह इच्छापूर्ण हो (स्वाहा)। मैं अन्य लोगों से अधिक प्रशस्य और अधिक धनवान् बनूँ, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)। ब्रह्मचारी कहता है—हे भगवन् आचार्यवर, मैं आपमें प्रविष्ट होऊँ, अर्थात् गर्भवास के सदृश आपके सान्निध्य में रहूँ, मैं आपको आत्मसमर्पण करता हूँ (स्वाहा)। आचार्य उत्तर में कहता है—हे सौभाग्यवान् ब्रह्मचारी, तू मुझमें प्रविष्ट हो, अर्थात् मेरे सान्निध्य में रहे, मैं तेरे समर्पण को स्वीकार करता हूँ (स्वाहा)। पुनः ब्रह्मचारी कहता है—हे भगवन्, ज्ञान-विज्ञान की सहस्र शाखाओं के पण्डित तुझ आचार्य के संरक्षण में स्वयं को सौंपकर मैं स्वयं को शुद्ध और विद्या एवं व्रतों से अलंकृत करता हूँ॥ ३॥[३]

आचार्य कहता है—जैसे नदियाँ नीचे की ओर जाती हैं, जैसे चैत्र, वैशाख आदि मास दिनों को एक-एक करके जीर्ण करनेवाले

---

१. (श्रियम्) किंविशिष्टाम्? लोमशाम् अजाव्यादियुक्ताम् अन्यैश्च पशुभिः संयुक्ताम् आवह—शङ्कर। मे मम श्रियं महतीं विभूतिम् आवह। कीदृशीमित्याह—लोमशां क्षेत्रपुत्रादिबहुद्रव्यवतीम् पशुभिः सह आवहेति। यद्वा पशुभिर्लोमशां विचित्ररूपां श्रियं सह युगपत् आवह। तैत्तिरीय आरण्यक का भट्टभास्करभाष्य।

२. आवहन्ती (वह प्रापणे) वितन्वाना (वि-तनु विस्तारे) कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। ओमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥ २॥

३. यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाऽहं त्वयि मृजे (मृजू शौचालङ्कारयोः) स्वाहा॥ ३॥

सूर्य के अधीन रहते हैं, इसी प्रकार हे धाता परमेश्वर, सब ओर से ब्रह्मचारी मेरे पास आयें, यह मेरी इच्छा पूर्ण हो (स्वाहा)। ब्रह्मचारी कहता है—हे आचार्यवर, आप मेरे शरणस्थल (प्रतिवेश) हैं, अपनी शरण में रखकर मुझे विद्या से चमकाइये, विद्यादान और व्रतपालन सिखाने के लिए मुझे प्राप्त होइए॥ ४॥[1]

पाँचवाँ अनुवाक

चार व्याहृतियों का उपदेश

आचार्य शिष्य को चार व्याहृतियों का उपदेश करता है। भूः, भुवः, सुवः ये तीन व्याहृतियाँ है। व्याहृतियों में चौथी व्याहृति 'महः' को माहाचमस्य ऋषि ने प्रचारित किया था। यह चौथी व्याहृति ब्रह्म है, यह सबका आत्मा है। विविध क्षेत्रों के अन्य देवता उसके अंगभूत हैं।[2]

इन चार व्याहृतियों की चार प्रकार से व्याख्या करते हैं—

क्षेत्र	**भूः**	**भुवः**	**सुवः**	**महः**
अधिलोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	आदित्य
अधिज्यौतिष	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा
अधिवेद	ऋचः	सामानि	यजूंषि	ब्रह्म
अधिप्राण	प्राण	अपान	व्यान	अन्न

लोकों में पृथिवीलोक 'भूः' है, अन्तरिक्षलोक 'भुवः' है, द्युलोक 'सुवः' है। आदित्यलोक 'महः' है, क्योंकि आदित्य से ही सब लोक महिमा प्राप्त करते हैं॥ १॥[3]

ज्योतियों में अग्नि 'भूः' है, वायु 'भुवः' है, आदित्य 'सुवः' है। चन्द्रमा 'महः' है। चन्द्रमा से ही सब ज्योतियाँ महिमा प्राप्त करती हैं॥ २॥[4]

---

१. यथाऽऽपः प्रवता यन्ति, यथा मासा अहर्जरम् (अहानि दिनानि जरयति एकैकशः समापयतीति अहर्जरः सूर्यः)। एवं मा ब्रह्मचारिणः धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि, प्र मां भाहि, प्र मा पद्यस्व॥४॥

२. भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः॥

३. भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते॥ १॥

४. भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते॥ २॥

वेदमन्त्रों में ऋचाएँ 'भूः' हैं, सामगान के मन्त्र 'भुवः' हैं, यजुर्मन्त्र 'सुवः' हैं। उनका प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म 'महः' है, क्योंकि ब्रह्म-प्रतिपादन से ही सब वेद महिमा प्राप्त करते हैं॥ ३ ॥[1]

प्राणों में प्राण 'भूः' है, अपान 'भुवः' है, व्यान 'सुवः' है। अन्न 'महः' है, क्योंकि अन्न से ही सब प्राण महिमा प्राप्त करते हैं॥ ४ ॥[2]

सो ये चार-चार व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार से व्याख्यात हुई हैं। उन्हें उक्त प्रकार से जो जान लेता है, वह 'ब्रह्म' का ज्ञाता हो जाता है। सब देव उसके प्रति बलि लाने लगते हैं॥ ५ ॥[3]

शिष्य कहता है—आचार्यवर, चार व्याहृतियों की यह चतुर्धा व्याख्या अन्यत्र तो समझ में आ रही है, किन्तु अधिज्यौतिष क्षेत्र में शङ्का उत्पन्न हो रही है।

पहली शङ्का यह है कि अग्नि, आदित्य और चन्द्रमा तो ज्योति हैं, किन्तु वायु को ज्योति क्यों कहा गया है? दूसरी शङ्का यह उठ रही है कि अधिलोक व्याख्या में तो आदित्य को 'महः' कहा गया है, किन्तु अधिज्यौतिष व्याख्या में आदित्य को 'सुवः' कह दिया गया है और चन्द्रमा को 'महः' कहा गया है, साथ ही यह स्थापना भी की गई है कि चन्द्रमा से ही सब ज्योतियाँ महिमा प्राप्त करती हैं, परन्तु सब ज्योतियाँ महिमा को प्राप्त तो आदित्य से करती हैं, न कि चन्द्रमा से। चन्द्रमा तो स्वयं ही आदित्य से महिमा पाता है।

ठीक है, तुम्हारी शङ्काओं का निवारण करता हूँ, आचार्य कहते हैं। देखो, कोई वस्तु चमकदार होने से ही ज्योति नहीं कहाती, किन्तु जिस क्षेत्र में जो वस्तु महत्त्वपूर्ण होती है, वह उस क्षेत्र की ज्योति मानी जाती है। अन्तरिक्ष में वायु महत्त्वपूर्ण होने से वह उस क्षेत्र की ज्योति कही गयी है। दूसरे यह कि वायु में इन्द्र, अर्थात् विद्युत् भी समाविष्ट है और विद्युत् एक ज्योति है ही।

अब अपनी दूसरी शङ्का का उत्तर भी सुनो। पृथिवी से लेकर

---

१. भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते॥ ३ ॥

२. भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते॥ ४ ॥

३. ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा, चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्य देवा बलिमाहरन्ति॥ ५ ॥

ऊपर की ओर क्रमशः भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सात लोक हैं। भूः लोक में पार्थिव अग्नि, भुवः लोक में विद्युत्-रूप अग्नि, स्वः लोक में सूर्यरूप अग्नि और महः लोक में चन्द्रमा रूप अग्नि वास करते हैं। यह चन्द्रमा हमारी भूमि के चन्द्रमा से भिन्न है। महः लोक का यह चन्द्रमा सूर्य से भी ऊपर है, जो सूर्य को भी प्रभावित करता है।

छठा अनुवाक

चारों व्याहृतियों की उपासना का फल

वह जो यह हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें यह मनोमय पुरुष जीवात्मा निवास करता है, जो अमर है, तेजस्वी है। दोनों ओर के तालुओं के बीच में जो यह स्तन-सा लटकता है, वह 'इन्द्रयोनि' है, अर्थात् वहाँ से ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग प्रारम्भ होता है। वह मार्ग जाता कहाँ तक है? वहाँ तक, जहाँ सिर के कपालों को भेदकर केशों (सिर के बालों) का अन्त, अर्थात् अन्दर का अन्तिम सिरा विद्यमान है। उसी में भूः, भुवः, स्वः, महः इन चारों व्याहृतियों का ध्यान किया जाता है। 'भूः' व्याहृति का ध्यान करने से साधक अग्नि में प्रतिष्ठित हो जाता है, अग्नि के समान तेजस्वी एवं ऊर्ध्वगामी हो जाता है। 'भुवः' व्याहृति का ध्यान करने से साधक वायु में प्रतिष्ठित हो जाता है, वायु के समान प्राणवान् एवं वेगवान् हो जाता है॥ १ ॥[1]

'सुवः' व्याहृति का ध्यान करने से साधक आदित्य में प्रतिष्ठित हो जाता है, आदित्य के समान तेजःपुञ्ज, तेज बखेरनेवाला एवं अध्यात्म दृष्टि से ऊर्ध्वस्थ हो जाता है। 'महः' व्याहृति का ध्यान करने से साधक ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है, ब्रह्म को पा लेता है। वह आन्तरिक स्वराज्य प्राप्त कर लेता है। वह मन के अधिपति अपने आत्मा को प्राप्त कर लेता है। तब वह वाणी का अधिपति चक्षु का अधिपति, श्रोत्र का अधिपति, बुद्धि का अधिपति हो जाता है। आकाशवत् व्यापक शरीरवाला ब्रह्म है, विश्व ब्रह्माण्ड ही उसका शरीर है। उसे पाकर साधक सत्य आत्मावाला, प्राणों में रमनेवाला, मन में आनन्द लेनेवाला, शान्ति से समृद्ध और

१. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १॥

अमर हो जाता है। यह उपदेश करके आचार्य अपने शिष्य प्राचीनयोग्य को कहता है कि—हे प्राचीनयोग्य, तू इन लाभों को प्राप्त करने के लिए व्याहृतियों में ध्यान लगा, उनके माध्यम से उपासना कर॥ २॥[१]

सातवाँ अनुवाक

पाङ्क्त उपासना

अब अधिभूत तथा अध्यात्म दृष्टियों से पाङ्क्तों (पञ्चकों) का वर्णन करते हैं। **अधिभूत** दृष्टि से तीन पाङ्क्त हैं। **पहला पाङ्क्त है**—१. पृथिवी, २. अन्तरिक्ष, ३. द्यौ, ४. दिशाएँ (पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर), ५. अवान्तर दिशाएँ (अग्नि कोण, नैर्ऋत्य कोण, वायव्य कोण और ईशान कोण)। **दूसरा पाङ्क्त है**—१. अग्नि, २. वायु, ३. आदित्य, ४. चन्द्रमा, ५. नक्षत्र। **तीसरा पाङ्क्त है**—१. जल, २. ओषधियाँ, ३. वनस्पतियाँ, ४. आकाश, ५. आत्मा। ये तीनों अधिभूत, अर्थात् शरीर से बाहर के जगत् के पाङ्क्त हैं। पहला पाङ्क्त लोकों की दृष्टि से है, दूसरा पाङ्क्त ज्योतियों की दृष्टि से है, तीसरा पाङ्क्त परमात्मा और उससे व्याप्य पदार्थों के विषय में है। ओषधियाँ वे कहलाती हैं, जो फल पकने के बाद स्वयं भी सूखकर समाप्त हो जाती हैं, जैसे धान, चना, जौ, गेहूँ। वनस्पति बिना फूल आये फलनेवाले वृक्ष को कहते हैं, जैसे गूलर, पीपल, बड़। आकाश खाली स्थान को कहते हैं, जो सभी पदार्थों के अन्दर और बाहर व्याप्त रहता है। आत्मा से परमात्मा ग्राह्य है, जिसके बिना कोई पदार्थ स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। परमात्मा यद्यपि भौतिक वस्तु नहीं है, तो भी भौतिक वस्तुओं की स्थिति का कारण होने से अधिभूत पञ्चकों में परिगणित किया गया है।[२]

अब **अध्यात्म पाङ्क्त** का वर्णन करते हैं। अध्यात्म पाङ्क्त भी तीन प्रकार का है। **प्रथम पाङ्क्त है**—१. प्राण, २. व्यान, ३. अपान, ४. उदान, ५. समान। **द्वितीय पाङ्क्त है**—१. चक्षु, २. श्रोत्र, ३.

---

१. सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः एतत् ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मप्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धम् अमृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व (२)॥ ६॥

२. पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽ वान्तरदिशः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्।

मन, ४. वाक्, ५. त्वचा। **तृतीय पाङ्क्त है**—१. चर्म, २. मांस, ३. स्नायु, ४. अस्थि, ५. मज्जा। ये तीनों पाङ्क्त शरीरवर्ती पञ्चक होने से अध्यात्म पाङ्क्त कहलाते हैं। **प्रथम** पाङ्क्त प्राणों का है। कण्ठ से ऊपर के भाग के अङ्गों का सञ्चालन करनेवाले शरीरवर्ती वायु को प्राण कहते हैं। शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों की चेष्टा करानेवाले शरीरवर्ती वायु को व्यान कहते हैं। शारीरिक मलों का निःसारण करानेवाले अधोवर्ती वायु को अपान कहते हैं। ऊर्ध्वगति करानेवाला शरीरवर्ती वायु उदान कहलाता है। भुक्त-पीत वस्तु का पाचन कराकर रस-रक्त को शारीरिक अङ्गों में पहुँचानेवाले मध्यवर्ती वायु को समान कहते हैं। इस प्राण-पञ्चक के बिना शरीर के विभिन्न संस्थान कार्यक्षम नहीं हो सकते। **द्वितीय** पाङ्क्त ज्ञानेन्द्रियों का है, जिससे मनुष्य का जीवात्मा ज्ञानार्जन करता है। चक्षु से बाह्य दृश्यों को देखकर, श्रोत्र से बाह्य शब्दों को सुनकर, मन से चिन्तन करके, वाक्, अर्थात् रसना से षड् रसों का स्वाद लेकर और त्वचा से मृदु-कठोर आदि को पहचानकर मनुष्य विभिन्न ज्ञानों को प्राप्त करता है। **तृतीय** पाङ्क्त शरीर के ढाँचे से सम्बन्ध रखता है। शारीरिक ढाँचे में सबसे ऊपर चर्म है, उसके नीचे मांस, फिर नस-नाड़ियाँ, फिर हड्डी और मज्जा हैं, जिससे शारीरिक ढाँचा व्यवस्थित और स्थिर रहता है।[1]

इस अधिभूत एवं अध्यात्म पाङ्क्त-परम्परा को तालिका द्वारा इस रूप में चित्रित कर सकते हैं—

अधिभूत एवं अध्यात्म पाङ्क्त

	१	२	३	४	५
१	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	दिशः	अवान्तरदिशः
२	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा	नक्षत्र
३	आपः	ओषधयः	वनस्पतयः	आकाशः	आत्मा
१	प्राण	व्यान	अपान	उदान	समान
२	चक्षु	श्रोत्र	मन	वाक्	त्वक्
३	चर्म	मांस	स्नायु	अस्थि	मज्जा

इन अधिभूत और अध्यात्म पाङ्क्तों (पञ्चकों) का वर्णन कर चुकने के उपरान्त ऋषि कहने लगे—यह अधिभूत और अध्यात्म

१. अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म मांसं स्नाव अस्थि मज्जा।

जगत् सब पाङ्क्तमय है, पाङ्क्तों से घिरा हुआ है। एक पाङ्क्त दूसरे पाङ्क्त को संतृप्त करता है, या बलवान् बनाता है।[1]

तालिका में देखिए। सब पाङ्क्तों की पहली-पहली इकाई लें तो पृथिवी, अग्नि, आपः, प्राण, चक्षु, चर्म ये सब एक-दूसरे को संतृप्त, परिपुष्ट एवं बलवान् बनाते हैं। इसी प्रकार दूसरी इकाई की अन्तरिक्ष वायु आदि छहों वस्तुएँ, तीसरी इकाई की द्यौ, आदित्य आदि छहों वस्तुएँ, चौथी इकाई की दिशा, चन्द्रमा आदि छहों वस्तुएँ और पाँचवीं इकाई की अवान्तर दिशा, नक्षत्र आदि छहों वस्तुएँ परस्पर सम्बद्ध हैं और एक-दूसरी को संतृप्त, परिपुष्ट एवं बलवान् बनाती हैं।

आठवाँ अनुवाक

आचार्य द्वारा ओङ्कार का उपदेश

'ओम्' यह ब्रह्म का नाम है। 'ओम्' से यह सारा वाङ्मय व्याप्त है। उसी 'ओम्' की अनुकृति अनुज्ञार्थक 'ओम्' है। जब 'होता' नामक ऋत्विजों को कहते हैं 'ओ श्रावय'—"हे भाई, वेदपाठ सुनाओ" तब वे सुनाने लगते हैं। यह 'ओ' 'ओम्' का ही संक्षिप्तरूप है। 'ओम्' कहकर ही सामों का गान करते हैं। 'ओम्, शोम्'[2] कहकर ही होता लोग शस्त्रों (वेदमन्त्रों) का शंसन करते हैं। 'ओम्' बोलकर ही अध्वर्यु यज्ञविधि (प्रतिगर) को करता है। 'ओम्' बोलकर ही ब्रह्मा अन्य ऋत्विजों को अपना कार्य करने की अनुज्ञा देता है। 'ओम्' बोलकर अग्निहोत्र करने की अनुज्ञा देता है। 'ओम्' बोलकर ही प्रवचन करता हुआ ब्राह्मण कहता है कि मैं 'ब्रह्म को प्राप्त होऊँ'। तब वह सचमुच ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[3] इस प्रकार अनुज्ञावाचक 'ओम्'

---

१. एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति (स्पृ प्रीतिबलनयोः)॥७॥

२. ओम् में शान्तिवाचक श् लगा देने से शोम् बनता है, जो शान्तिदायक ओम् का वाचक है।

३. ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा 'अप्योश्रावय'-इत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओं शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रम् अनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्रवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥८॥

ब्रह्मवाचक 'ओम्' से ही निकला है। अनुज्ञा या स्वीकृति महिमा को सूचित करती है और ब्रह्म भी महान् है, अतः ओङ्कार की उपासना करनी चाहिए।

नवाँ अनुवाक

ऋत, सत्य आदि सहित स्वाध्याय-प्रवचन

अब आचार्य शिष्यों को ऋत, सत्य, तप आदि सहित स्वाध्याय-प्रवचन का उपदेश करते हैं। हे शिष्यो! तुम ऋत (सत्य-कर्म) और स्वाध्याय-प्रवचन करो। सत्य (सत्यज्ञान का ग्रहण) और स्वाध्याय-प्रवचन करो। तप और स्वाध्याय-प्रवचन करो। दम (इन्द्रियदमन) और स्वाध्याय-प्रवचन करो। शम (शान्ति) और स्वाध्याय-प्रवचन करो। अग्नियों का स्थापन और स्वाध्याय-प्रवचन करो। अग्निहोत्र और स्वाध्याय-प्रवचन करो। अतिथि-सत्कार औंर स्वाध्याय-प्रवचन करो। मानुष (मनुष्यों के साथ यथायोग्य व्यवहार) और स्वाध्याय-प्रवचन करो। प्रजोत्पत्ति और स्वाध्याय-प्रवचन करो। प्रजापालन और स्वाध्याय-प्रवचन करो। प्रकृष्ट जाति बनाओ और स्वाध्याय-प्रवचन करो। सत्यवक्ता राथीतर आचार्य के मत में इनमें से सत्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। नित्य तप में रत रहनेवाले पौरुशिष्टि आचार्य तप को श्रेष्ठ मानते थे। नाक मौद्गल्य नामक आचार्य स्वाध्याय-प्रवचन को श्रेष्ठ कहते थे। उनके मत में स्वाध्याय-प्रवचन ही तप है, स्वाध्याय-प्रवचन ही तप है॥ ९ ॥[1]

दसवाँ अनुवाक

परमेश्वर का आत्म-परिचय

मैं जगत्-रूप वृक्ष को उत्पन्न करने, बढ़ाने और विनष्ट करने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के पृष्ठ के समान ऊँची है। मैं उच्च

---

१. ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ ९ ॥

और पवित्र हूँ। मैं जैसे बल और वेग से युक्त सूर्य (वाजी) में विद्यमान हूँ, वैसे ही सर्वत्र व्यापक हूँ। मैं श्रेष्ठ आनन्दामृत से युक्त हूँ। मैं धनी हूँ, उत्तम तेज से युक्त हूँ। उत्कृष्ट मेधावाला हूँ, अमर हूँ, अक्षय हूँ। यह त्रिशंकु नामक ऋषि का वेदानुकूल वचन है।[१]

ग्यारहवाँ अनुवाक

नव स्नातकों को आचार्य का उपदेश

वेद पढ़ाकर आचार्य स्नातक बनाते समय अन्तेवासी शिष्य को उपदेश करता है। तू सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय से प्रमाद मत करना। आचार्य के लिए प्रिय धन लाते रहकर प्रजातंतु को, अर्थात् धन लाने रूप सन्तान के कर्त्तव्य-सूत्र को मत तोड़ना।[२] सत्य से प्रमाद मत करना। धर्म से प्रमाद मत करना। कुशल-क्षेम से प्रमाद मत करना। समृद्धि बढ़ाने से प्रमाद मत करना। स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद मत करना। देव और पितरों के कार्य, अर्थात् देवयज्ञ और पितृयज्ञ से प्रमाद मत करना।[३]

माता को देव मानना। पिता को देव मानना। आचार्य को देव मानना। अतिथि को देव मानना। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उनका सेवन करना, दूसरों का नहीं। जो हमारे उत्तम आचरण हैं, उनका तू अनुकरण करना, दूसरों का नहीं॥ २॥[४]

---

१. अहं वृक्षस्य रेरिवा (री गतिरेषणयोः)। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि द्रविणं सुवर्चसम्। सुमेधा अमृतोऽक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥ १॥

२. टीकाकारों ने यहाँ 'प्रजातन्तु' से सन्तान-विस्तार का ग्रहण किया है। प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेतनीः विच्छिन्नं मा कार्षीः। विद्यामधिगम्य न त्वरितेन प्रव्रजितव्यं, सन्तानार्थं निवेशनं तावत् कर्त्तव्यमित्यर्थः।

—तैत्तिरीय आरण्यक, भट्टभास्करभाष्य

३. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥

४. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि॥ २॥

जो हमसे अधिक प्रशस्त ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी विद्वान्) हैं, उनका तू आसन देकर सम्मान करना। श्रद्धा से दान करना। श्रद्धा न हो तो अश्रद्धा से ही दान करना। शोभा के साथ दान करना। अन्य कुछ हेतु न हो तो लोकलाज से ही दान करना, भयवश दान करना। सहानुभूति से दान करना॥ ३ ॥[१]

यदि कभी तेरे मन में कौन-सा कर्म करना चाहिए, कौन-सा नहीं, किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, कैसा नहीं, इसके विषय में संशय उत्पन्न हो, तो वहाँ जो विचारशील, सत्कर्मों में युक्त, उच्चपदों पर आयुक्त, जो रूखे स्वभाव के न हों ऐसे धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, जैसा वे वर्ताव करते हों, वैसा वर्ताव करना॥ ४ ॥[२]

निन्दित लोगों के साथ कैसा व्यवहार करना है, इस विषय में यदि तुझे सन्देह हो, तो इसका भी यही सूत्र है कि जो वहाँ विचारशील, सत्कर्मों में युक्त, उच्चपदों पर आयुक्त, जो रूखे स्वभाव के न हों, ऐसे धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, जैसा वे वर्ताव करते हों, वैसा वर्ताव करना॥ ५ ॥[३]

यही आदेश है। यही उपदेश है। यह वेद की उपनिषद् है। यही अनुशासन है। इसी का पालन करना। निश्चय ही इसी का पालन करना॥ ६ ॥[४]

शान्तिपाठ

शं नो॑ मि॒त्रश्शं वरु॑णः शं नो॑ भवत्वर्य॒मा। शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॑ः। शं नो॑ विष्णु॑रुरुक्र॒मः। नमो॒ ब्रह्म॑णे। नम॑स्ते वायो। त्वमे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मा॑सि। त्वामे॒व प्र॒त्यक्षं॒ ब्रह्मावा॑दिषम्।

---

१. ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥ ३ ॥

२. अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः ॥ ४ ॥

३. अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः ॥ ५ ॥

४. एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ६ ॥

ऋ॒तम॑वादिषम्। स॒त्यम॑वादिषम्। तन्मामा॑वीत्। तद् व॒क्तार॑मावीत्। आवी॒न्माम्। आवी॑द् व॒क्तार॑म्।

ओम् शा॒न्ति॒श्शा॒न्ति॒श्शा॒न्तिः॑ ॥

मित्र प्रभु हमारे लिए शान्तिकर हो, वरुण प्रभु शान्तिकर हो, अर्यमा प्रभु हमारे लिए शान्तिकारक हो। बड़े-बड़े लोकों का स्वामी इन्द्र प्रभु हमारे लिए शान्तिदायक हो। विस्तृत व्यवस्थावाला सर्वव्यापी विष्णु प्रभु हमारे लिए शान्तिकारक हो। ब्रह्म के लिए नमस्कार है। हे वायु नामक प्रभु, तुझे नमस्कार है। तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। तुझे ही मैंने प्रत्यक्ष ब्रह्म बोला है। मैंने सत्याचरण की बात बोली है। सत्य बोला है। उसने मेरी रक्षा की है। उसने वक्ता की रक्षा की है। मेरी रक्षा की है, मुझ वक्ता की रक्षा की है।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

२. ब्रह्मवल्ली

ओ३म् स॒ह ना॑ववतु। स॒ह नौ॑ भुनक्तु। स॒ह वी॒र्य्यं॑ करवावहै। ते॒ज॒स्वि ना॒वधी॑तमस्तु। मा वि॑द्विषा॒वहै॥

गुरु-शिष्य मिलकर प्रार्थना करते हैं। परमेश्वर एक-साथ हम दोनों की रक्षा करे, एक-साथ हम दोनों का पालन करे। हम दोनों एक-साथ बल का सञ्चय करें। हमारा अध्ययन तेजस्वी हो। हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

पहला अनुवाक

ब्रह्मज्ञान का फल

ब्रह्म को जाननेवाला परम पद प्राप्त कर लेता है। इस विषय में एक ऋचा है, जिसका भाव यह है—"ब्रह्म सत्यमय है, ज्ञानमय है, अनन्त है, अर्थात् उसका अन्त या विनाश कभी नहीं होता। वह परम व्योम (आकाश) में, गुहा में निहित है। उसे जो जान लेता है, वह ज्ञानी ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है।"[१]

गुरुजी, यहाँ दो शङ्काएँ उठ रही हैं। लोगों से पहले भी सुन रखा है कि ब्रह्म कहीं ऊपर आस्मान में रहता है। आपने भी यही

१. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

कहा है कि वह परम आकाश में गुफा में रहता है। परम आकाश कौन-सा है और वहाँ गुफा कौन-सी है ? देखो शिष्यो, आकाश सर्वत्र व्याप्त है। अन्य भूत पृथिवी, जल, तेज, वायु की अपेक्षा श्रेष्ठ होने के कारण वह परम कहाता है। उनसे श्रेष्ठ इस कारण है, क्योंकि उनमें भी व्याप्त है। तो ब्रह्म परम आकाश में विद्यमान है, इसका तात्पर्य यही निकलता है कि वह सर्वत्र व्याप्त है। परम आकाश हृदयाकाश को भी कहते हैं, जहाँ ब्रह्म के दर्शन होते हैं। गुहा या गुफा में रहने का तात्पर्य यह है कि वह गुह्य या रहस्यमय है।

दूसरी शङ्का हमारी गुरुवर, यह है कि ब्रह्म को जान लेने से मनुष्य की सब कामनाएँ कैसे पूर्ण हो सकती हैं ? देखो, प्यासे को पानी मिल जाने पर सब-कुछ मिल जाता है या नहीं ? ऐसे ही जिसे ब्रह्म की प्यास है, उसे ब्रह्म के मिल जाने पर सब-कुछ मिल जाता है, उसकी अन्य सब कामनाएँ मिट जाती हैं। इसी को इस रूप में भी कह सकते हैं कि उसकी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अच्छा, उपनिषद् की बात आगे सुनो पुत्रो!

अन्नमय शरीर का महत्त्व

ब्रह्म की चर्चा अभी तुमने सुनी है। उस ब्रह्मरूप निमित्त कारण से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश कहते हैं खाली स्थान को। प्रलयावस्था में पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणु सर्वत्र व्याप्त थे। सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिए ब्रह्म ने उन परमाणुओं को गति दी। गति देने से वे सङ्कुचित हुए। उससे आकाश उत्पन्न हो गया। आकाश था तो पहले भी, पर पहले वह परमाणुओं के बीच में व्याप्त होने से दिखायी नहीं देता था। अब वह सङ्कुचित हुए परमाणुओं के बीच में भी रहा और बाहर भी प्रकट हो गया। आकाश प्रकट होने के अनन्तर सङ्कुचित परमाणुओं से बनी गैसें आकाश में फैल गयीं, अर्थात् वायु उत्पन्न हो गया। वे गैसें या वायुएँ ज्वलनशील होने से जल उठी एवं वायु की उत्पत्ति के पश्चात् अग्नि उत्पन्न हो गया। आग्नेय द्रव्य को जब ठण्ड मिलती है, तब वह द्रवरूप हो जाता है एवं अग्नि पैदा होने के बाद 'आपः' या जल या द्रव पदार्थ उत्पन्न हुआ। द्रव पदार्थ ठण्ड पाने पर ठोस आकार को धारण कर लेता है। एवं जलों की उत्पत्ति के अनन्तर पृथिवी उत्पन्न हुई। इस प्रकार पृथिवी भी उत्पन्न हो गयी तथा उसमें आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथक् भी रहे। पृथिवी

में से ओषधियाँ निकली। ओषधियों से अन्न निकला। अन्न को मनुष्यों ने खाया, तो उससे स्त्री-पुरुषों के शरीर में 'रेतस्' (रज एवं वीर्य) की उत्पत्ति हुई। रेतस् (रज एवं वीर्य) के मिलने से माता के गर्भ से 'पुरुष' उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह पुरुष अन्नरसमय है, अर्थात् अन्न के रस से बना है।[१]

अन्न के रस से बने इस मानव का यह जो ऊपर दीखता है, वह सिर है; दायीं भुजा और कन्धा दक्षिण पक्ष है; बायीं भुजा और कन्धा उत्तर पक्ष है; धड़ ही शरीर है; नाभि से निचला भाग इसकी पूँछ है, जो इसका आधार (प्रतिष्ठा) है।[२]

दूसरा अनुवाक

अन्न की महिमा का एक श्लोक है, जिसका आशय यह है—"अन्न से ही प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं, जो कोई भी पृथिवी पर स्थित हैं, और अन्न से ही जीवनधारण करती हैं, अन्त में वे अन्न में ही मिल जाती हैं। अन्न ही पदार्थों में श्रेष्ठ है। इसी कारण यह सब रोगों का औषध कहलाता है। जो अन्न को ब्रह्म, अर्थात् सबसे बड़ा मानकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, निश्चय ही वे सब अन्न को प्राप्त कर लेते हैं।"[३]

अन्न ही पदार्थों में ज्येष्ठ है, सबसे बड़ा है। इस कारण वह सबका औषध कहा जाता है। अन्न से ही प्राणी पैदा होते हैं, पैदा होकर अन्न से बढ़ते हैं। ब्रह्म भी 'अन्न' कहलाता है। अन्न शब्द खाने अर्थवाली 'अद्' धातु से बना है। ब्रह्म खाया भी जाता है, अर्थात् उपासकों से उपासना भी किया जाता है और प्राणियों को खाता भी है, अर्थात् उनका संहार भी करता है।[४]

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद् रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

२. तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।

३. अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। सर्वं हि तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते।

४. अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात् सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

यह जो त्वचा, मांस, मज्जा, हड्डियों से बना शरीर है, यह अन्नमय कोश कहलाता है।

प्राणमय शरीर का महत्त्व

इस अन्नरसमय स्थूल शरीर से भिन्न एक अन्य शरीर है, जो प्राणमय है। उस प्राणमय शरीर से यह स्थूल शरीर परिपूर्ण रहता है। वह प्राणमय शरीर भी स्थूल शरीर के समान पुरुष की आकृति का ही है, पुरुषविध ही है।[1]

जैसे स्थूल शरीर के सिर आदि अङ्ग हैं, ऐसे ही इस प्राणमय शरीर के भी हैं। 'प्राण' ही प्राणमय शरीर का सिर है। 'व्यान' दक्षिण पक्ष है। 'अपान' उत्तर पक्ष है। आकाश, अर्थात् आकाशवत् सबमें समरूप से रहनेवाला 'समान' नामक प्राण धड़ है। पृथिवी के समान गति करनेवाला 'उदान' प्राणमय शरीर की पूँछ है, अर्थात् आधार है। इस प्रकार प्राण, व्यान, अपान, समान और उदान नामक प्राणावयवों से प्राणमय शरीर बनता है।[2]

तीसरा अनुवाक

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—"प्राण के सहारे देव (विद्वान् लोग) जीवनधारण करते हैं, जो मनुष्य और पशु हैं वे भी। प्राण प्राणियों को आयु देनेवाला है। इसी कारण उसे 'सर्वायुष' कहते हैं। पूर्ण आयु को वे प्राप्त करते हैं, जो प्राण को ब्रह्म (ज्येष्ठ) मानते हैं। प्राण प्राणियों का आयुष्यवर्धक है, इस कारण 'सर्वायुष' कहा जाता है। 'प्राणमय कोश' का वही शरीरवर्ती आत्मा है, जो 'अन्नमय कोश' का था।"[3]

मनोमय शरीर का महत्त्व

उस प्राणमय शरीर से भिन्न एक दूसरा मनोमय शरीर है। उस मनोमय शरीर से यह प्राणमय शरीर पूर्ण रहता है। यह मनोमय

---

१. तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः॥
२. तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।
३. प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात् सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्जीवन्ति, ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात् सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥

शरीर भी पुरुषविध ही है। प्राणमय शरीर जैसे पुरुषविध है, वैसे ही यह मनोमय शरीर भी पुरुषविध है। जैसे पुरुष के सिर होता है, ऐसे ही इस मनोमय शरीर का सिर 'यजुः' है। 'ऋचा' दक्षिण पक्ष (दाहिना पासा) है, 'साम' उत्तर पक्ष (बाँया पासा) है। आदेश (शास्त्र की प्रेरणा) धड़ है, अथर्ववेद निचला भाग (पुच्छ) या आधार है।[१] इस प्रकार यजुः, ऋक्, आदेश एवं अथर्ववेद से मनोमय शरीर का ढाँचा बनता है, क्योंकि मनोमय शरीर वेदों से प्रेरणा पाकर ही सत्सङ्कल्प करता है।

चौथा अनुवाक

इसके विषय में एक श्लोक है, जिसका आशय यह है— "जिसे बिना पाये ही मनसहित वाणियाँ लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जो जान लेता है, अनुभव कर लेता है, वह कभी भयभीत नहीं होता।" अतः ब्रह्म को जानने का अन्तिम साधन मन नहीं है। एवं मनोमय शरीर का महत्त्व भी सीमित ही है। इस मनोमय शरीर का आत्मा वही है, जो प्राणमय शरीर का था।[२]

विज्ञानमय शरीर का महत्त्व

इस मनोमय शरीर से भिन्न एक अन्य विज्ञानमय शरीर है। उस विज्ञानमय शरीर से यह मनोमय शरीर पूर्ण रहता है, अर्थात् पुष्टि पाता है। यह विज्ञानमय शरीर भी मनोमय शरीर के समान पुरुषविध, अर्थात् पुरुष की आकृति का ही है। 'श्रद्धा' उसका सिर है, 'ऋत' दक्षिण पक्ष, अर्थात् दाहिना पासा है। 'सत्य' उत्तर पक्ष, अर्थात् बाँया पासा है। 'योग' उसका धड़ है। 'महः' निचला भाग (पुच्छ) या आधार है।[३] विज्ञानमय शरीर में प्रधानतः 'बुद्धि'

---

१. तस्माद् वा एतस्मात् प्राणमयात् अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा।

२. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥

३. तस्माद् वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स एव एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यम् उत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा॥

आती है, बुद्धि का कार्य निश्चय करना होता है। वह बुद्धि श्रद्धा, ऋत (सत्यकर्म), सत्य (सत्यज्ञान) और 'योग' (चित्तवृत्तिनिरोध-पूर्वक भगवान् से मिलाप) के आधार पर ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निश्चय करती है, अतः ये सब उसके अङ्ग कहे गये हैं।

पाँचवाँ अनुवाक

इसके विषय में एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—"विज्ञान (विज्ञानमय शरीर) ही 'यज्ञ' को फैलाता है और कर्मों को भी फैलाता है। 'विज्ञान' को ही सब देव (विद्वज्जन) 'ज्येष्ठ ब्रह्म', अर्थात् महान् वस्तु मानकर व्यवहार करते हैं। उस 'विज्ञानरूप ब्रह्म' को यदि मनुष्य जान लेता है और उसके व्यवहार में प्रमाद नहीं करता, तो उसका फल यह होता है कि शरीर में पापों को छोड़कर, अर्थात् पापों से मुक्त होकर सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है। इस विज्ञानमय शरीर का वही 'आत्मा' होता है, जो मनोमय शरीर का था।"[1]

आनन्दमय शरीर का महत्त्व

उस विज्ञानमय शरीर से भिन्न एक अन्य शरीर है, जिसे आनन्दमय शरीर कहते हैं। उस आनन्दमय शरीर से यह विज्ञानमय शरीर पूर्ण रहता है, अर्थात् पुष्टि पाता है। यह आनन्दमय शरीर भी विज्ञानमय शरीर के समान पुरुषविध है, अर्थात् पुरुष के समान अङ्गोंवाला है। 'प्रिय' उसका सिर है। 'मोद' दक्षिण पक्ष, अर्थात् दाहिना पासा है। 'प्रमोद' उत्तर पक्ष, अर्थात् बाँया पासा है। 'आनन्द' धड़ है। 'ब्रह्म' पुच्छ, अर्थात् आधार है।[2]

पाँचों शरीरों की संक्षिप्त व्याख्या

अब तक पाँचों शरीरों के ढाँचे का वर्णन हमने देखा है, उसे तालिकारूप में इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

---

१. तदप्येष श्लोको भवति। विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद् वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान् कामान् समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य॥

२. तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम् अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।

शरीर	सिर	दक्षिण पक्ष	उत्तर पक्ष	धड़	प्रतिष्ठा (पुच्छ)
अन्नमय	मूर्धा	दाँया पासा	बाँया पासा	धड़	निचला भाग
प्राणमय	प्राण	व्यान	अपान	समान (आकाश)	उदान (पृथिवी)
मनोमय	यजुः	ऋचा	साम	आदेश	अथर्ववेद
विज्ञानमय	श्रद्धा	ऋत	सत्य	योग	महः
आनन्दमय	प्रिय	मोद	प्रमोद	आनन्द	ब्रह्म

गुरुजी, इसकी कुछ व्याख्या भी कर दें, जिससे हमारी बुद्धि पूर्णतः इसे हृदयङ्गम कर ले। यह तो मैं स्वयं ही करनेवाला था। शिष्यो, सुनो!

जो हमें प्रत्यक्ष दीखता है, यह **अन्नमय शरीर** है। इसमें शरीर का सारा स्थूल ढाँचा आ जाता है। इसमें गले से ऊपर का भाग मूर्धा, दाँया पासा, बाँया पासा, धड़ और नाभि से पैरों तक का निचला भाग सब स्पष्ट दिखाई देते हैं। ये अपना-अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं, जिससे शरीर परिपुष्ट होता है। दूसरा **प्राणमय शरीर** कोई स्थूल शरीर नहीं है। मुख्य प्राण पाँच रूपों में, शरीर में अवस्थित रहता है—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। ये विभिन्न प्राण स्थूल शरीर के विभिन्न अङ्गों का संचालन करते हैं, विभिन्न क्रियाएँ करते हैं। प्राणमय शरीर में विद्यमान 'प्राण' ही मानो मूर्धा है, क्योंकि यह मुख्यतः स्थूल शरीर के मूर्धा का संचालन करता है। मस्तिष्क, ज्ञानवाहिनी नाड़ियाँ, चक्षु, श्रोत्र आदि सब 'प्राण' से संचालित होते हैं। 'व्यान' ही प्राणमय शरीर का दाँया पासा है, क्योंकि वह स्थूल शरीर के दक्षिण पार्श्व का संचालन करता है। 'व्यान' का मुख्य कार्य 'क्रिया' करना है और शरीर का दक्षिण पार्श्व या दक्षिण बाहु अधिक सक्रिय होता है। 'अपान' ही प्राणमय शरीर का बाँया पासा है। अन्यत्र 'अपान' मलमूत्र-निःसारण करानेवाला या अधोवायु निकालनेवाला कहा गया है, किन्तु यहाँ 'अपान' का सम्बन्ध स्थूल शरीर के 'वाम पार्श्व' से माना गया है। वाम पार्श्व में प्रधानतः हृदय, तिल्लीं, बाँया गुर्दा, मूत्राशय होते हैं। इनके कार्य का संचालन 'अपान' करता है। स्थूल शरीर के धड़ के कार्य को 'समान' नामक प्राण करता है, जो आकाशवत् शरीर में व्यापक होकर सब अङ्गों को सन्तुलित रखता है। 'उदान' पृथिवीवत् आधार का कार्य करता

है, जो शरीर के निचले भाग से ऊपर की ओर जाता हुआ निचले और उपरले शरीर के सम्बन्ध को स्थापित किये रखता है।

तीसरा '**मनोमय' शरीर** है। इसका कार्य सङ्कल्प-विकल्प करना है। 'यजुः' ही मनोमय शरीर का सिर या मूर्धा है। 'यजुः' ज्ञान और कर्म दोनों का प्रतीक है और मूर्धा भी ज्ञानवाहिनी तथा कर्मवाहिनी दोनों नाड़ियों का संचालन करता है। 'ऋचा' इस शरीर का 'दक्षिण पार्श्व' है, क्योंकि ऋचाएँ दाक्षिण्य या उदारता का पाठ पढ़ाती हैं। 'साम' इस शरीर का 'वाम पार्श्व' है, यतः दक्षिण पार्श्व एवं वाम पार्श्व में समस्वरता का कारण 'साम' ही होता है। 'वेद का आदेश' ही मनोमय शरीर का धड़ है, क्योंकि सङ्कल्प-विकल्प में वैदिक आदेश का सहारा न लें, तो सारा सङ्कल्प-विकल्प ही हीन कोटि का एवं क्षत-विक्षत हो जाये। 'अथर्ववेद' मनोमय शरीर की पूँछ है। पूँछ से जैसे डाँस, मक्खियाँ आदि उड़ायी जाती हैं, ऐसे ही आथर्वणिक ज्ञान अनुचित सङ्कल्प-विकल्प को रोकता है।

चौथा '**विज्ञानमय' शरीर** है। इसमें बुद्धि की प्रधानता होती है। 'श्रद्धा' ही इस शरीर का सिर है, क्योंकि बुद्धि का सद्व्यापार 'श्रद्धा' पर ही निर्भर होता है। 'ऋत' और 'सत्य' क्रमशः 'दक्षिण पक्ष' और 'उत्तर पक्ष' हैं। जैसे स्थूल शरीर से दाँये पासे एवं बाँये पासे को निकाल दें, तो शरीर व्यर्थ हो जाता है, ऐसे ही बुद्धि-व्यापार से 'ऋत' और 'सत्य' को निकाल देने से बुद्धि कुबुद्धि हो जाती है। ऋत होता है 'सत्याचार' और 'सत्य' कहते हैं 'सत्यज्ञान' को। विज्ञानमय शरीर का धड़ है 'योग'। योग कहाता है चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक परमेश्वर से मेल। बुद्धि के साथ यह न हो तो बुद्धि का प्रधान कार्य 'सही निश्चय' सम्भव ही न हो। 'महः' प्रतिष्ठा या पूँछ है। 'महस्' का अर्थ है 'तेज'—अध्यात्म तेज के बिना बुद्धि का आधार ही समाप्त हो जाता है।

पाँचवाँ '**आनन्दमय शरीर**' है। आनन्दमय शरीर के सिर, दक्षिण पक्ष, वाम पक्ष, धड़ एवं प्रतिष्ठा क्रमशः प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द और ब्रह्म हैं। दूसरों का प्रिय करने की भावना के बिना आनन्द प्राप्त नहीं होता, अतः 'प्रिय' आनन्दमय शरीर का सिर या मूर्धा है। मोद और प्रमोद दक्षिण एवं वाम पक्ष हैं। 'मोद' हर्ष का नाम है, 'प्रमोद' प्रहर्ष का। इनके बिना आनन्दमय शरीर

का दक्षिण एवं वाम पक्ष ही नहीं बनता। 'धड़' है 'आनन्द' या 'ब्रह्मानन्द', इसे निकाल दें, तो आनन्दमय शरीर का ढाँचा ही समाप्त हो जाए। प्रतिष्ठा है 'ब्रह्म', क्योंकि ब्रह्मरूप आधार के बिना आनन्दमय शरीर खड़ा ही नहीं हो सकता।

यह पञ्च शरीरों की छोटी-सी व्याख्या है। शिष्यो, समझ गये या नहीं? समझ गये गुरुजी! अच्छा अब उपनिषद् की बात आगे बढ़ाते हैं।

छठा अनुवाक

ब्रह्म के विषय में एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—"यदि ब्रह्म को कोई असत् मानता है, तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है, और यदि कोई 'ब्रह्म है' ऐसा जानता है तो उस जाननेवाले को भी लोग यह मानते हैं कि 'वह है, उसकी सत्ता है।' उस ब्रह्मज्ञाता के शरीर का वही आत्मा होता है, जो आनन्दमय शरीर का आत्मा था।"[१]

तात्पर्य यह है कि नास्तिक मनुष्य की लोग कोई हस्ती नहीं मानते, वह न के बराबर ही होता है, क्योंकि ईश्वर-विरोधी होने के कारण उसके कर्म निन्दित होते हैं। इसके विपरीत ईश्वर की सत्ता माननेवाले के कर्म प्रशंसनीय होते हैं, अतः उसके जीवन को सब प्रशस्त मानते हैं। इस प्रकार नास्तिक का अस्तित्व नहीं माना जाता और आस्तिक का माना जाता है।

अनुप्रश्न

अब अनुप्रश्न उठाते हैं। अनुप्रश्न का अर्थ है, जो बात चल रही है, उस पर प्रश्न। प्रश्न यह है कि क्या अविद्वान् मनुष्य मरकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है अथवा विद्वान् मनुष्य मरने के बाद ब्रह्मलोक को पाता है?[२]

उत्तर

विद्वान्, अर्थात् ब्रह्मज्ञ मनुष्य ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, अविद्वान्, अर्थात् अब्रह्मज्ञ नहीं। विद्वान् यह जाने कि ब्रह्म सर्वत्र व्यापा हुआ है, उसी ने समग्र सृष्टि उत्पन्न की है।

---

१. असन्नेव स भवति। असद् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य।

२. अथातोऽनुप्रश्नाः। उताऽविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३, आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३ उ।

सृष्ट्युत्पत्ति से पूर्व उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ। उसने तप तपा। उसका तप ज्ञानमय था, शारीरिक नहीं, क्योंकि वह अशरीरी है। उसने तप तपकर इस समस्त ब्रह्माण्ड को पैदा कर दिया, जो कुछ भी यह दिखाई देता है। उसे रचकर वह उसी में प्रविष्ट हो गया।[1]

अपने रचे जगत् में प्रविष्ट होकर ब्रह्म 'सत्' और 'त्यत्', अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त हो गया। जो ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले हैं, उन्हें वह व्यक्त दीखता है, अन्यों को अव्यक्त दीखता है। वह निरुक्त और अनिरुक्त हो गया। ब्रह्मज्ञानी लोग उसके विषय में कुछ कह सकते हैं, इसलिए वह 'निरुक्त' है, किन्तु पूर्णतः उसका वर्णन नहीं कर सकते, अतः 'अनिरुक्त' भी है। वह 'निलयन' भी है, 'अनिलयन' भी है, अर्थात् 'आश्रय' भी है और 'अनाश्रय' भी है। 'आश्रय' तो इस कारण है कि सब उपासकजन उसी का आश्रय पाकर उन्नति करते हैं और 'अनाश्रय' इस हेतु से है कि अमूर्त होने से स्थूलरूप में किसी का आश्रय नहीं बन सकता। वह 'विज्ञान' भी है, 'अविज्ञान' भी है। 'विज्ञान' तो इस कारण है कि अन्य विज्ञानों के समान ज्ञातव्य है, और 'अविज्ञान' इसलिए है कि अन्य विज्ञानों के तुल्य पूर्णतः बुद्धिगम्य नहीं है। वह 'सत्य' भी है, 'अनृत' भी है। 'सत्य' इस कारण है कि निश्चितरूप से उसकी सत्ता है, 'अनृत' इसलिए है कि उसकी सत्ता इन्द्रियगोचर नहीं है। वस्तुतः वह 'सत्य', अर्थात् यथार्थ ही था। यह जो कुछ भी यथार्थ दिखाई देता है, उसे 'सत्य' कहते हैं।[2]

सातवाँ अनुवाक

इस विषय में एक श्लोक भी है। सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व ब्रह्म 'असत्', अर्थात् अव्यक्त था, उस 'अव्यक्त ब्रह्म' से 'व्यक्त ब्रह्म' उत्पन्न हुआ। आशय यह है कि सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् ही उत्पन्न पदार्थ सूर्य, चन्द्र आदि में ब्रह्म व्यक्तरूप से दीखता है, उससे पूर्व नहीं। क्या उस व्यक्त ब्रह्म को किसी दूसरे ने उत्पन्न किया? नहीं, उसने स्वयं अपने-आपको व्यक्तरूप

---

१. सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

२. तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते॥ ६॥

में उत्पन्न किया। इसी कारण उस ब्रह्म को 'सुकृत', अर्थात् 'स्वयंकृत' या 'स्वयंभू' कहते हैं।[१]

वह जो 'सुकृत', अर्थात् 'स्वयंभू' ब्रह्म है, वह निश्चय ही 'रस' है, रसमय है। जीव उस रसमय को पाकर ही आनन्दी होता है। भला कौन अपान क्रिया करे, कौन प्राण ले, यदि यह आकाश के समान व्यापक आनन्दमय ब्रह्म न हो। वही सबसे प्राण, अपान आदि क्रियाएँ करवाता है। वही जीव को आनन्द भी देता है। जब यह जीव उस ब्रह्म में जो अदृश्य है, अशरीर (अनात्म्य) है, अनिरुक्त है, अनाधार (अनिलयन) है, अभय और प्रतिष्ठा (स्थिति) को पा लेता है, तब वह निर्भय हो जाता है।[२]

जब जीव ब्रह्म से अपने सम्बन्ध में थोड़ा भी अन्तर (परायापन) रखता है, तब उसे भय होता है। यह अन्तर या परायापन ही ज्ञानी विद्वान् के भय का कारण बनता है। जब वह ब्रह्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बना लेता है, तब वह निर्भय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि साथ में कोई अपने से बड़ा रक्षक न हो तभी भय लगा करता है, जब सबसे बड़े ब्रह्म को वह अपना रक्षक बना लेता है, तब भय समाप्त हो जाता है।[३]

आठवाँ अनुवाक

इस विषय में एक श्लोक है, जिसका भाव यह है—"ब्रह्म के भय से ही वायु चलता है। उसी के भय से सूर्य उदित होता है। उसी के भय से अग्नि और इन्द्र कार्य करते हैं। उसी के भय से पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है।"[४] तात्पर्य यह है कि ये सब ब्रह्म से भयभीत इस कारण होते हैं, क्योंकि इन्होंने ब्रह्म को पाया हुआ नहीं है। जो ब्रह्म को पा लेता है, वह निर्भय हो जाता है।

---

१. असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति।

२. यद्वै तत् सुकृतम्। रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

३. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत् त्वेष भयं विदुषो मन्वानस्य॥७॥

४. भीषाऽस्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

आनन्द की मीमांसा

ऊपर कहा गया है कि रसमय ब्रह्म को पाकर मनुष्य आनन्दी हो जाता है। प्रश्न होता है कि उस आनन्द की माप-तोल क्या है? अतः आनन्द की मीमांसा करते हैं।

कोई युवक साधु हो, शिक्षित हो, अतिशय फुर्तीला हो, अति दृढ़ हो, बलिष्ठ हो; उसे धन से पूर्ण यह सारी भूमि मिल जाए; तब उसे जो आनन्द होगा वह एक **मानुष आनन्द** कहलाता है।[१] ऐसे-ऐसे सौ मानुष आनन्द मिलकर एक **मनुष्य-गन्धर्वों का आनन्द** कहलाता है।[२] मनुष्य-गन्धर्व वे कहलाते हैं, जो मनुष्योचित गुणों के साथ-साथ सङ्गीतकला एवं सामगान में निपुण होते हैं। ऐसे-ऐसे सौ मनुष्य-गन्धर्वों के आनन्द मिलकर एक **देवगन्धर्वों का आनन्द** होता है।[३] देवगन्धर्व वे कहलाते हैं, जो विद्वान् होने के साथ-साथ सामगान में निपुण होते हैं। ऐसे-ऐसे सौ देवगन्धर्वों के आनन्द मिलकर एक **चिरलोकी पितरों का आनन्द** होता है।[४] चिरलोकी पितर वे कहलाते हैं, जो चिरकाल तक मनुष्यलोक में रहनेवाले, अर्थात् दीर्घायु पितृजन होते हैं। ऐसे-ऐसे सौ चिरलोकी पितरों के आनन्द मिलकर एक **आजानज देवों का आनन्द** होता है।[५] आजानज देव वे कहलाते हैं, जिनमें देवत्व, अर्थात् दिव्यगुणों का बीज जन्म से ही होता है। ऐसे-ऐसे सौ आजानज देवों के आनन्द मिलकर एक **कर्मदेवों का आनन्द** होता है।[६] कर्मदेव वे कहलाते हैं, जिनमें देवत्व कर्मों से अर्जित होता है। ऐसे-ऐसे सौ

---

१. सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाऽध्यायकः आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः ॥ १ ॥

२. ये ते शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ २ ॥

३. ये ते शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ३ ॥

४. ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः स एकः पितर्णां चिरलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

५. ते ये शतं पितर्णां चिरलोकानामानन्दाः स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ५ ॥

६. ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ६ ॥

कर्मदेवों के आनन्द मिलकर एक **देवों का आनन्द** होता है।[१] देव वे कहलाते हैं, जनिमें देवत्व पराकाष्ठा में विद्यमान हो जाता है। ऐसे-ऐसे सौ देवों के आनन्द मिलकर एक **इन्द्र का आनन्द** होता है।[२] ऐसे-ऐसे सौ इन्द्र के आनन्द मिलकर एक **बृहस्पति का आनन्द** होता है।[३] ऐसे-ऐसे सौ बृहस्पति के आनन्द मिलकर एक **प्रजापति का आनन्द** होता है।[४] ऐसे-ऐसे सौ प्रजापति के आनन्द मिलकर एक **ब्रह्म का आनन्द** होता है।[५] उक्त सभी आनन्द उसे ही प्राप्त होते हैं, जो श्रोत्रिय होता है, अर्थात् वेदों का अध्ययन किये होता है तथा कामनाओं से उपहत नहीं होता।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म कौन है, जिसका आनन्द इतना महान् है? इसका उत्तर देते हैं कि जो यह 'पुरुष' के अन्दर बैठा हुआ सारे शरीर का संचालन कर रहा है तथा 'आदित्य' के अन्दर बैठा हुआ आदित्य का संचालन कर रहा है, वही 'ब्रह्म' है। दोनों का 'ब्रह्म' एक ही है, अलग-अलग नहीं हैं।[६]

अब इस ब्रह्मानन्द के अनुभव का फल बतलाते हैं। जो इस ब्रह्मानन्द को जान लेता है, अनुभव कर लेता है, वह इस लोक से दृष्टि हटाकर इस अन्नमय शरीर के प्रति ध्यान देता है। फिर इस प्राणमय शरीर के प्रति ध्यान देता है। फिर इस मनोमय शरीर के प्रति ध्यान देता है। फिर इस विज्ञानमय शरीर के प्रति ध्यान देता है। फिर इस आनन्दमय शरीर के प्रति ध्यान देकर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।[७]

---

१. ते ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥७॥
२. ये ते शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥८॥
३. ये ते शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥९॥
४. ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥१०॥
५. ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य॥११॥
६. स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः।
७. स य एवंवित्। अस्माल्लोकात् प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति॥१२॥

नौवाँ अनुवाक

इस विषय में एक श्लोक भी है, जिसका भाव यह है—"मनसहित वाणियाँ जिसका वर्णन करने में अशक्त रहती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जो जान लेता है, अर्थात् उसका अनुभव कर लेता है, उसे किसी का भय नहीं रहता।"[१] उसे इस बात का सन्ताप नहीं होता कि मैंने साधुकर्म क्यों नहीं किये, क्यों मैं पाप करता रहा,[२] क्योंकि वह पाप करता ही नहीं। वह साधुकर्म और पापकर्म के तत्त्व को जान लेता है कि कौन-से साधुकर्म हैं, जो करणीय हैं और कौन-से पापकर्म हैं, जो अकरणीय हैं। अतः पापकर्म न करके, प्रत्युत साधुकर्म करके वह अपने आत्मा को बलवान् और आनन्दी बना लेता है, यह ब्रह्मविद्या का रहस्य है, यह उपनिषद् है।[३]

अन्त में गुरु-शिष्य मिलकर शान्तिपाठ करते हैं—

ओं सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

३. भृगु वल्ली

ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भार्गवी वारुणी विद्या

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर बोला—पिताजी, मुझे 'ब्रह्म' पढ़ाइए। पिता ने उत्तर में कहा—देख, अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी ये ही ब्रह्म हैं।[४] ये ब्रह्म कैसे हो

---

१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन इति॥

२. एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवम् इति।

३. स य एवं विद्वान् एते, आत्मानं स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते, य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

४. भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत् प्रोवाच-अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।

सकते हैं पिताजी? देख, 'अन्न' कहते हैं शरीर को। 'अद्यते इति अन्नम्' जो खाया जाता है, वह अन्न कहलाता है। शरीर भी मृत्यु द्वारा खाया जाने के कारण 'अन्न' है। किन्तु वह शरीर ब्रह्म कैसे है, पिताजी? देख, 'ब्रह्म' कहते हैं, महत्त्वपूर्ण वस्तु को— 'बृहत्त्वाद् ब्रह्म'। शरीर भी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। शरीर न हो तो आत्मा कर्म कैसे करेगा? अतः शरीर 'ब्रह्म' है।

उसके बाद शरीर में रहनेवाले प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी भी महत्त्वपूर्ण होने से ब्रह्म हैं। शरीर में प्राण न हो, तो वह मुर्दा हो जाता है, उसे श्मशान ले जाकर जला देते हैं, अतः प्राण 'ब्रह्म' है। आँख भी ब्रह्म है, क्योंकि आँखों के बिना मनुष्य देख नहीं सकता। बिना देखे शास्त्रों का पढ़ना, स्वयं ग्रन्थ लिखना आदि सुविधापूर्वक नहीं हो सकता। आँख की ज्योति चली जाने पर आँख से होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं होता। कान भी ब्रह्म है, क्योंकि कानों के बिना गुरुमुख से बोले गये शास्त्र के पाठ का सुनना नहीं हो सकता और शास्त्र सुने बिना मनुष्य अज्ञानी रह जाता है। 'मन' भी ब्रह्म है, क्योंकि मन के बिना मनुष्य सङ्कल्प-विकल्प नहीं कर सकता, सोच-विचार नहीं सकता। मन ही प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा ज्ञान ग्रहण करने में माध्यम बनता है। मन नहीं लगा है, तो मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। वाणी भी ब्रह्म है, क्योंकि बिना वाणी के कोई बोल नहीं सकता और बिना बोले अपने मन की बात सुविधापूर्वक दूसरे पर प्रकट नहीं कर सकता।

इतना समझाने के बाद पिता ने पुत्र भृगु को ब्रह्म जानने का एक सूत्र देते हुए कहा—देख भृगु, "जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होने के बाद जीवनधारण करते हैं, जिसके पास जाते हैं और अन्ततः जिसमें प्रविष्ट हो जाते हैं या लय हो जाते हैं, उसे तू समझ ले कि वह ब्रह्म है।[१]" इस सूत्र को सुनकर भृगु ने मस्तिष्क का बड़ा तप किया, चिन्तन और मनन किया कि यह सूत्र किसमें लागू होता है।[१] (प्रथम अनुवाक समाप्त)

तप करके, अधिकाधिक मनन-चिन्तन करके उसने 'अन्न' को ब्रह्म जाना। उसने सोचा कि अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते

१. तं होवाच-यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।

हैं। रज और वीर्य अन्नमय शरीर का ही अङ्ग हैं। उन्हीं से प्राणियों की उत्पत्ति होती हैं। अन्न से ही वे जीवित रहते हैं। अन्न को ही पाने के लिए सब प्रयत्न करते रहते हैं और अन्ततः पृथिवी रूप अन्न में ही लय हो जाते हैं।[१]

अन्न को ब्रह्म जानकर भृगु पुनः पिता वरुण के पास पहुँचा और बोला—पिताजी, ब्रह्म का और अधिक ज्ञान दीजिए। पिता ने फिर कहा कि मानस तप से ही ब्रह्म को जानो। तप बहुत महान् वस्तु है।[२] (द्वितीय अनुवाक समाप्त)

उसने पुनः मानस तप किया, विचार-चिन्तन-मनन किया और तप करके वह इस परिणाम पर पहुँचा कि 'प्राण' ही ब्रह्म है, शरीर में महत्त्वपूर्ण है। प्राण पर वह पिता के दिये हुए सूत्र को घटाने लगा। उसने स्वयं को कहा—देख भृगु, प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं। यदि माता के गर्भाशय से बालक मृत निकलता है, तो कोई नहीं कहता कि बालक पैदा हुआ है, क्योंकि बालक तो प्राणधारी नन्हें शरीर का नाम है। प्राणवान् बालक उत्पन्न होने के अनन्तर प्राण के सहारे ही जीवित रहता है। प्राण को जागरूक रखने के लिए उसका सब प्रयत्न होता है। रुग्ण होने पर सब चिकित्सा कराते हैं कि कहीं प्राण शरीर से निकल न जाए। अन्ततः मृत्यु के समय सब इन्द्रियाँ और मन सूक्ष्म शरीररूप में प्राण में ही समा जाते हैं और उन्हें साथ लेकर प्राण आत्मा के साथ शरीर से बाहर निकल जाता है।[३]

प्राण को ब्रह्म जानकर, शरीर में महत्त्वपूर्ण तत्त्व जानकर भृगु पुनः पिता वरुण के समीप पहुँचा और बोला—पिताजी, ब्रह्म का और अधिक ज्ञान दीजिए। पिता ने भृगु को कहा कि मानस तप से ही ब्रह्म को जानो, तप बहुत बड़ी वस्तु है।[४] (तृतीय अनुवाक समाप्त)

---

१. स तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

२. तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितर मुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच, तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।

३. स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेन जातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

४. तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति।

भृगु ने पुनः मानस तप किया, विचार किया, मन्थन किया। तप करके वह इस परिणाम पर पहुँचा कि मन प्राण की अपेक्षा अधिक ऊँचा ब्रह्म है। मानस तप से उसने अबकी बार मन को ब्रह्म जाना। पिता से दिये हुए ब्रह्म की पहिचान के पूर्व सूत्र को घटाने लगा। मन से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, क्योंकि मन ही न हो तो उत्पादक का उत्पत्ति में ध्यान ही न लगे। फिर उत्पत्ति भला कैसे हो सकती है? उत्पन्न होने के पश्चात् प्राणी मन के द्वारा ही जीवित रहते हैं, क्योंकि मन या विचारशक्ति ही न हो तो सोच-विचारकर कार्य कैसे करें। बिना सोचे-विचारे कार्य करने पर कार्य उल्टा हो सकता है और कर्त्ता सङ्कट में पड़ सकता है। मन की महिमा को देखकर प्राणधारी मन की ओर ही दौड़ते हैं, मन का उपयोग करना चाहते हैं। अन्ततः सब इन्द्रियाँ और प्राण मन में ही लीन हो जाते हैं, जैसा कि स्वप्नावस्था में होता है।[1]

मन को ब्रह्म जानने के बाद भृगु पुनः पिता के पास पहुँचा और बोला—पिताजी, मन से भी बड़े ब्रह्म का उपदेश मुझे दीजिए। पिता ने पुनः यही कहा कि मानस तप से ही ब्रह्म को जान, तप बहुत बड़ी वस्तु है।[2] (चतुर्थ अनुवाक समाप्त)

भृगु ने पुनः मानस तप किया। उसने तप करके 'विज्ञान' को ब्रह्म जाना। 'विज्ञान' बुद्धितत्त्व का नाम है। पिता से प्राप्त पूर्व सूत्र को वह विज्ञान या बुद्धितत्त्व में घटाने लगा। बुद्धितत्त्व से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, क्योंकि बुद्धितत्त्व साथ न हो, तो मनुष्य निर्बुद्धि या कुबुद्धि होकर सम्यक् उत्पत्ति ही न कर सके। उत्पन्न प्राणी बुद्धितत्त्व के द्वारा ही जीवित रहते हैं, क्योंकि निर्बुद्धि या कुबुद्धि मनुष्य कभी भी अपनी काली करतूत से अपना विनाश कर सकता है। सब लोग बुद्धितत्त्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और अन्ततः बुद्धितत्त्व में ही लीन हो जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं।[3]

---

१. स तपोऽतथत, स तपस्तप्त्वा मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभि संविशन्तीति।

२. तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।

३. स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

इस प्रकार 'विज्ञान' को ब्रह्म जानने के पश्चात् भृगु पुनः पिता वरुण के पास पहुँचा और बोला—पिताजी, विज्ञान से भी बड़े ब्रह्म का उपदेश मुझे दीजिए। पिता ने पुनः यही कहा कि मानस तप से ब्रह्म को जानो। तप बहुत बड़ी वस्तु है।[1] (पञ्चम अनुवाक समाप्त)

भृगु ने पुनः तप किया, चिन्तन-मनन किया। मानस तप करके उसने 'आनन्द' को ब्रह्म जाना। पिता के बताये हुए ब्रह्मविषयक सूत्र को वह घटाने लगा। आनन्द से ही सब भूत पैदा होते हैं। उत्पन्न करनेवाला आनन्दमग्न न हो तो वह उत्पत्ति कर ही नहीं सकता। उत्पन्न होकर सब आनन्द से ही जीवित रहते हैं। शोक किसी को जिन्दा नहीं रहने देता। सबका निरन्तर आनन्द को प्राप्त करते रहने का प्रयत्न रहता है और वे आनन्द को प्राप्त भी कर लेते हैं, आनन्द में लीन हो जाते हैं।[2]

यह 'भार्गवी वारुणी विद्या' कहलाती है। इसका यह नाम इस कारण है, क्योंकि यह विद्या पिता वरुण द्वारा पुत्र भृगु को दी गयी थी। यह विद्या परम व्योम में प्रतिष्ठित है, अर्थात् अत्यन्त ऊँची है। जो इसे वास्तविकरूप में जान लेता है, वह भी परम व्योम में प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात् अत्यन्त उच्च हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्नाद हो जाता है, अर्थात् प्रचुर अन्नों का स्वामी और अन्न को खाने के सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। वह प्रजा, पशुओं और ब्रह्मवर्चस से महान् हो जाता है, कीर्ति से महान् हो जाता है।[3] (षष्ठ अनुवाक समाप्त)

अन्नोपासना

अन्न की निन्दा न करे, यह व्रत ग्रहण करे। प्राण ही अन्न है, शरीर अन्नाद (अन्न को खानेवाला) है। शरीर प्राण का उपयोग करता है, अतः वह अन्नाद है। शरीर प्राण का अन्न भी है, क्योंकि प्राण उसे खा लेता, अर्थात् मार देता है। प्राण के सहारे शरीर

---

१. तद् विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति।

२. स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

३. सैषा भार्गवी वारुणी विद्या, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महान्कीर्त्या॥६॥

प्रतिष्ठित है, शरीर के सहारे प्राण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार एक अन्न, दूसरे अन्न के आश्रय से प्रतिष्ठित है। शरीर में प्राण न रहे तो वह मृत हो जाए और शरीर न हो तो प्राण कहाँ रहे! अतः दोनों एक-दूसरे के आश्रित हैं। जो मनुष्य अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जान लेता है, वह स्वयं भी प्रतिष्ठित हो जाता है, क्योंकि प्रतिष्ठा के ज्ञान का फल प्रतिष्ठा की प्राप्ति ही हो सकता है। अन्न की निन्दा न करने से, प्रत्युत उसकी प्रशंसा करने से तथा प्राप्त करने की इच्छा से वह अन्नवान् हो जाता है और वह अन्न को भोगने के सामर्थ्यवाला भी हो जाता है। खाद्य अन्न भी उसे प्राप्त हो जाता है तथा स्वस्थ प्राण एवं स्वस्थ शरीररूप अन्न का भी वह स्वामी हो जाता है। खाद्य अन्न प्राप्त होने से तथा स्वस्थ प्राण एवं स्वस्थ शरीररूप अन्न की प्राप्त हो जाने से वह प्रजाओं, पशुओं तथा ब्रह्मवर्चस से महान् हो जाता है और कीर्ति से भी महान् हो जाता है।[१] (सप्तम अनुवाक समाप्त)

अन्न का परित्याग न करे, यह व्रत ग्रहण करे। जल अन्न हैं, ज्योति अन्नाद (अन्न को खानेवाली) है, क्योंकि ज्योति (अग्नि) जल को सुखा देती है। ज्योति जलों का अन्न भी है, क्योंकि जल उसे बुझा देते हैं। जलों के सहारे ज्योति प्रतिष्ठित है, ज्योति के सहारे जल प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार एक अन्न दूसरे अन्न के सहारे प्रतिष्ठत है। अन्तरिक्ष में बादलों के सहारे विद्युत्-रूप ज्योति रहती है और बादलों के जल सूर्यरूप ज्योति के सहारे रहते हैं, अतः दोनों एक-दूसरे के आश्रित हैं। जो मनुष्य अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जान लेता है, वह स्वयं भी प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। वह अन्नवान् और अन्न को भोगने के सामर्थ्यवाला हो जाता है। वह प्रजाओं, पशुओं और ब्रह्मवर्चस से महान् हो जाता है, कीर्ति से महान् हो जाता है।[२] (अष्टम अनुवाक समाप्त)

---

१. अन्नं न निन्द्यात्, तद् व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्, शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्, शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या ॥७॥

२. अन्नं न परिचक्षीत, तद् व्रतम्। आपो वा अन्नम्, ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्, ज्योतिःष्वापः प्रतिष्ठिताः। तदेतद् अन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवान् अन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या॥८॥

अन्न को बहुत उत्पन्न करे, यह व्रत ले। पृथिवी अन्न है, आकाश अन्नाद (पृथिवीरूप अन्न का भोक्ता) है, क्योंकि पृथिवी आकाश में ही चक्कर काट रही है। आकाश अन्न भी है, क्योंकि सब चन्द्र, सूर्य आदि पिण्ड एवं सब प्राणी उसमें निवास द्वारा उसका उपयोग करते हैं। पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है, क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है, आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। दोनों ही अन्न हैं, अतः अन्न अन्न में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो मनुष्य अन्न को अन्न में प्रतिष्ठित जान लेता है, वह स्वयं भी प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अन्नवान् और अन्न को भोगने के सामर्थ्यवाला हो जाता है। वह प्रजा, पशुओं और ब्रह्मवर्चस से महान् हो जाता है, कीर्ति से महान् हो जाता है।[1] (नवम अनुवाक समाप्त)

शङ्का—गुरु जी! इस अन्नोपासना को अधिक स्पष्ट करने की कृपा करें। **उत्तर**—देखो, इस अन्नोपासना में तीन सूत्र आये हैं। १. **अन्नं न निन्द्यात्** (अन्न की निन्दा न करे), २. **अन्नं न परिचक्षीत** (अन्न का परित्याग न करे) और ३. **अन्नं बहु कुर्वीत** (अन्न को प्रचुरता से उत्पन्न करे)। अन्न सबका पालन करता है, अतः उसकी निन्दा करना उचित नहीं है। रूखा-सूखा भी अन्न हो, तो भी उसे सादर ग्रहण करना चाहिए। अन्न शरीर-निर्वाह के लिए अनिवार्य है, अतः उसका परित्याग भी उचित नहीं है। अन्न को पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न करना भी आवश्यक है, तभी प्राणियों का पालन हो सकता है। यह सामान्य अन्नविषयक व्याख्या है, साथ ही यह भी कहा गया है कि प्राण और शरीर भी अन्न हैं, जो एक-दूसरे में प्रतिष्ठित हैं, अतः प्राण और शरीर की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए, प्रत्युत इनसे यथोचित लाभ उठाना चाहिए। प्राण और शरीर को परस्पर प्रतिष्ठित जो जान लेता है, वह अपने भी प्राण और शरीर को प्रतिष्ठित करके प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। प्रतिष्ठित होने का परिणाम यह होता है कि वह प्रजा आदि से महान् हो जाता है तथा उसकी कीर्ति सर्वत्र फैल जाती है।

दूसरे प्रकरण में जल और ज्योति (अग्नि) को अन्न कहते

---

१. अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्, आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः, आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतद् अन्नम् अन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवान् अन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महान् कीर्त्या॥९॥

हुए इन्हें एक-दूसरे में प्रतिष्ठित बताया गया है। जल और ज्योति, अर्थात् सौम्य तत्त्व और आग्नेय तत्त्व का परित्याग मनुष्य न करे, प्रत्युत इन्हें अपने जीवन में घटाये। तब भी वह प्रतिष्ठित होकर, प्रजा आदि से महान् बनकर कीर्ति प्राप्त करता है।

तीसरे प्रकरण में पृथिवी और आकाश को अन्न कहकर इन्हें एक-दूसरे में प्रतिष्ठित बताया गया है। पृथिवी और आकाशरूप अन्नों की भी मनुष्य को प्रचुरता करनी चाहिए। अध्यात्म में अन्नमय कोष पृथिवी है और मनोमय कोष आकाश है। इनका बल अधिकाधिक अर्जित करना चाहिए। आधिभौतिक जगत् में पार्थिव पदार्थ एवं आकाशीय पदार्थ विद्युत्, चाँदनी, सूर्यताप आदि के मेल से अधिकाधिक वस्तुओं की सृष्टि करनी चाहिए। जो ऐसा करता है, वह प्रतिष्ठित होकर प्रजा आदि से तथा कीर्ति से महान् बन जाता है।

अतिथि-सत्कार

घर आये हुए को निवास के लिए मना न करे। यह व्रत ले। अतिथि-सत्कार अन्न के बिना नहीं हो सकता, इस कारण जिस-किसी भी विधि से बहुत अन्न संग्रह करे। जिनके पास प्रचुर अन्न होता है, वे ही यह कह सकते हैं कि हमने इस अतिथि के लिए अन्न पकाया है। वे उसके लिए भोजन के प्रारम्भ में अन्न पकाते हैं और कहते हैं कि—हे अतिथिप्रवर, यह अन्न हमने आपके लिए सबसे पहले पकाया है। वे उसके लिए भोजन के मध्य में अन्न पकाते हैं और कहते हैं कि हे पूज्य अतिथि, यह अन्न हमने आपके लिए भोजन के मध्य में पकाया है। वे उसके लिए आवश्यकतानुसार अन्त में भी अन्न पकाते हैं और कहते हैं कि हे मान्य अतिथिवर, यह अन्न हमने आपके लिए अन्त में पकाया है। जो अतिथि-सत्कार के इस महत्त्व को जान लेता है और व्यवहार में लाता है, उसके लिए भी जब वह अतिथि बनकर कहीं जाता है, तब गृहीजन आरम्भ में, मध्य में और अन्त में अन्न पकाते हैं।[1]

---

१. न कञ्चन वसतौ प्रत्याचक्षीत, तद् व्रतम्। तस्माद् यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मां अन्नम् इत्याचक्षते। एतद् वै मुखतोऽन्नं राद्धम्, मुखतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वै मध्यतोऽन्नं राध्दम्, मध्यतोऽस्मा अन्नं राध्यते। एतद् वा अन्ततोऽन्नं राद्धम्, अन्ततोऽस्मा अन्नं राध्यते य एवं वेद॥

मानुषी समाज्ञाएँ

अब मानुषी समाज्ञाओं का वर्णन करते हैं। मानुषी समाज्ञाओं का तात्पर्य है, ईश्वर की ओर से दी गई ऐसी आज्ञाएँ जो मनुष्य को अपने शरीर के विभिन्न अवयवों से पूर्ण करनी होती हैं।

मनुष्य की वाणी में क्षेम रहे, अर्थात् वह जो कुछ बोले, उससे अपनी तथा अन्यों की रक्षा हो। मनुष्य के प्राण-अपान में योगक्षेम रहे। अप्राप्त की प्राप्ति को योग कहते हैं और प्राप्त की रक्षा को क्षेम। प्राण-अपान के द्वारा मनुष्य अप्राप्त बल, स्वास्थ्य आदि की प्राप्ति तथा प्राप्त बल, स्वास्थ्य आदि की रक्षा करता रहे। मनुष्य के हाथों में कर्म रहे, हाथों से कर्म करता हुआ वह जीवन में सफलताएँ प्राप्त करे। मनुष्य के पैरों में गति हो, जिससे दूर से दूर की मञ्जिल तय कर सके। मनुष्य के पायु (गुदाप्रदेश) में विसर्जन की शक्ति हो, जिससे शरीर में उत्पन्न मलों का निःसारण होता रहे।[1]

दैवी समाज्ञाएँ

अब दैवी समाज्ञाएँ बताते हैं। देव कहते हैं—जड़-चेतन दिव्य पदार्थों को। उनमें परमेश्वर ने जो ज्ञातव्य विशेषताएँ निहित की हैं, वे दैवी समाज्ञाएँ कहलाती हैं। वृष्टि में तृप्ति प्रदान करने की विशेषता है। विद्युत् में बल की विशेषता है, क्योंकि उससे बड़े-से-बड़े बल के कार्य किये जा सकते हैं। पशुओं में यश की विशेषता है, अर्थात् विभिन्न पशु अपने विभिन्न गुण-कर्मों के कारण यशस्वी बने हुए हैं, जैसे गाय स्वास्थ्यप्रद दूध के कारण, अश्व अपने वेग के कारण। नक्षत्रों में ज्योति की विशेषता है। समीपस्थ भूतल (उप-स्थ[2]) में प्राणियों एवं ओषधियों की उत्पत्ति, जीवन (अ-मृत) और आनन्द-प्रदान की विशेषता है। तृप्ति-प्रदान, बल आदि उक्त सभी की विशेषता आकाश में है, क्योंकि आकाश सबमें व्यापक है। तृप्ति आदि उक्त विशेषताएँ वृष्टि आदि की प्रतिष्ठा-हेतु हैं, ऐसा जाने, प्रतिष्ठारूप में इनकी उपासना

---

१. क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः॥

२. यहाँ उपस्थ का अर्थ उपस्थेन्द्रिय प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा होता तो इसकी गणना मानुषी समाज्ञाओं में होनी चाहिए थी, जैसे पायु की है।

करे, अर्थात् समीपता से निरीक्षण करे। इससे मनुष्य स्वयं भी प्रतिष्ठावान् हो जाता है, उक्त विशेषताएँ उसमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं।[१]

परमेश्वर की विभिन्न नामों से उपासना

परमेश्वर की 'महः' नाम से उपासना करे, क्योंकि वह महान् है। इससे उपासक भी महान् हो जाता है। परमेश्वर की 'मनः' नाम से उपासना करे, क्योंकि वह मानी है। इससे उपासक भी मानी हो जाता है। परमेश्वर की 'नमः' नाम से उपासना करे, क्योंकि उसके प्रति सब नत होते हैं। इससे उपासक के प्रति भी सब चाहे हुए पदार्थ नत हो जाते हैं। परमेश्वर की 'ब्रह्म' नाम से उपासना करे, क्योंकि वह सबसे अधिक बढ़ा हुआ है, सर्वाधिक उन्नत है, (बृहि वृद्धौ)। इससे उपासक भी वृद्धिमान् (उन्नत) हो जाता है। परमेश्वर की 'परिमर' नाम से उपासना करे, क्योंकि वह ब्रह्माण्ड को मारनेवाला है, प्रलय करनेवाला है। इससे उपासक भी बाधाओं को मारनेवाला हो जाता है, सब द्वेषी, सब अप्रिय शत्रु उससे टक्कर लेकर मर जाते हैं।[२] तात्पर्य यह है कि जो परमेश्वर के जिस गुण की उपासना करता है, उसके अन्दर वही गुण आ जाता है।

परमेश्वर एक है

जो वह 'पुरुष' में दृष्टिगोचर होता है और जो यह 'आदित्य' में दृष्टिगोचर होता है, वह परमेश्वर एक ही है, अलग-अलग नहीं है।[३] तात्पर्य यह है कि यह जो अद्भुत पुरुष-शरीर है और इसमें जो प्राण, मन, बुद्धि, चक्षु, श्रोत्र आदि हैं, इनमें परमेश्वर की ही महिमा दिखाई देती है, क्योंकि ये परमेश्वर के ही बनाये हुए हैं। इसी प्रकार आदित्य में जो महिमा दिखाई देती है, वह

---

१. अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत् प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति॥

२. तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत, मानवान् भवति। तन्नम इत्युपासीत, नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद् ब्रह्मेत्युपासीत, ब्रह्मवान् भवति। तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्य्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः, परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः॥

३. स यश्चायं पुरुषे यश्चायमादित्ये स एकः।

भी परमेश्वर की ही है। इसी प्रकार भूमि, चन्द्र, नक्षत्र आदि भी परमेश्वर की ही सत्ता और महिमा को प्रकट करते हैं, किन्तु इन सबके परमेश्वर अलग-अलग नहीं हैं। सबका अधिष्ठाता परमेश्वर एक ही है।

ब्रह्मज्ञानी की स्थिति

ब्रह्म का ऊपर जो स्वरूप वर्णित किया गया है तथा जो उसके एकत्व का प्रतिपादन किया गया है, उसे जो जान लेता है तथा अनुभव कर लेता है, वह इस लोक से दृष्टि हटाकर इस अन्नमय शरीर में ध्यान लगाकर, फिर प्राणमय शरीर में ध्यान लगाकर, फिर मनोमय शरीर में ध्यान लगाकर, फिर विज्ञानमय शरीर में ध्यान लगाकर, फिर आनन्दमय शरीर में ध्यान लगाकर ऊँचा उठ जाता है। सङ्कल्प ही उसका अन्न होता है, अर्थात् मन से पदार्थों का विचार करता है (कामान्नी)। सङ्कल्पकर्त्ता होकर मन से इन लोकों में अनुसंचरण करता हुआ निम्नलिखित साम को गाता है।[1] (दसवाँ अनुवाक समाप्त)

हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽ२हमन्नादोऽ२हमन्नादः। अहंश्लोककृदहंश्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः। अहमन्नमन्न-मदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः[2] ॥

इस साम में ब्रह्म अपना परिचय दे रहा है। (हावु हावु हावु) अहो, अहो, अहो! कैसा आश्चर्य है! (अहम् अन्नम्, अहम् अन्नम्, अहम् अन्नम्,) मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। (अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः, अहम् अन्नादः) मैं अन्न का भोक्ता हूँ, मैं अन्न का भोक्ता हूँ, मैं अन्न का भोक्ता हूँ। कोई अन्न भी और अन्न

---

१. स य एवंवित्, अस्माल्लोकात् प्रेत्य, एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य, एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य इमांल्लोकान् कामान्नी कामरूपी अनुसञ्चरन् एतत् साम गायन्नास्ते॥

२. यह सामगान सामवेदीय आरण्य काण्ड की इस ऋचा पर आधारित है—
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥ —दशति १, मन्त्र ९

का भोक्ता भी दोनों कैसे हो सकता है ? यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है। ब्रह्म अन्न इस कारण है कि वह भक्तों से भोगा जाता है, उपासना किया जाता है। वह अन्न का भोक्ता इस कारण है कि इस जड़-चेतन जगद्रूप अन्न को ग्रस लेता है। (अहं श्लोककृत्, अहं श्लोककृत्, अहं श्लोककृत्) मैं अपने भक्तों की कीर्ति करनेवाला हूँ, कीर्ति करनेवाला हूँ, कीर्ति करनेवाला हूँ। (अहम् अस्मि) मैं हूँ, (प्रथमजाः) प्रथम उत्पादक (ऋतस्य) सत्य नियम का। मैं (पूर्वं देवेभ्यः) सब देवजनों से तथा अग्नि, वायु, सूर्य आदि दिव्य-पदार्थों से पहले विद्यमान था। मैं (अमृतस्य नाम) अमरत्व का केन्द्र हूँ। (यः मा ददाति) जो मेरा दूसरों को दान करता है, अर्थात् मेरा उपदेश करता है, (सः इत् एव) वही (मा अवाः) मेरी रक्षा करता है, अन्यथा लोग मुझे भुला दें। (अहम् अन्नम्) मैं भक्तों का अन्न हूँ और (अन्नम् अदन्तम्) प्रत्येक अन्नभोक्ता को समय आने पर (अद्मि) खा लेता हूँ, मार देता हूँ। (अहम् विश्वं भुवनम्) मैंने सब लोक-लोकान्तरों को (अभ्यभवम्) तिरस्कृत किया हुआ है, अर्थात् मैं सबसे बड़ा हूँ। (सुवः न ज्योतिः) सूर्य के समान मेरी ज्योति है।

ब्रह्म को जो ऐसा जान लेता है, उसका कल्याण होता है। यह उपनिषत् है।[1] (दशम अनुवाक समाप्त)

ओं सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भृगुवल्ली समाप्त

तैत्तिरीय उपनिषत् समाप्त हुई

---

१. य एव वेद। इत्युपनिषत् ॥१०॥

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. तैत्तिरीय उपनिषद् का सामान्य परिचय दीजिए।
२. शिक्षावल्ली के आदि और अन्त का शान्ति-मन्त्र अर्थसहित लिखिए।
३. 'वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान' इसे शिक्षाध्याय कहते हैं। स्पष्ट कीजिए।
४. संहितोपनिषद् की अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म व्याख्याएँ कीजिए।
५. शिष्य आचार्य से क्या आकांक्षा करता है?
६. आचार्य ब्रह्मचारियों के सम्बन्ध में क्या आकांक्षा करता है?
७. चार व्याहृतियाँ कौन-सी हैं? उनकी अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिवेद और अधिप्राण व्याख्याएँ कीजिए।
८. चार व्याहृतियों की उपासना कैसे होती है? उसका फल क्या होता है?
९. अधिभूत तथा अध्यात्म पाङ्क्त कौन-से हैं? पाङ्क्त उपासना कैसे होती है? उसका फल क्या है?
१०. आचार्य ने शिष्यों को ओङ्कार के विषय में क्या उपदेश किया?
११. ऋत, सत्य आदि सहित स्वाध्याय-प्रवचन का महत्त्व बताइये।
१२. परमेश्वर का आत्म-परिचय लिखिए।
१३. नवस्नातकों को आचार्य क्या उपदेश करता है?
१४. अन्नमय शरीर का वर्णन करके उसका महत्त्व बताइए।
१५. प्राणमय शरीर का वर्णन करके उसका महत्त्व लिखिए।
१६. मनोमय शरीर का वर्णन करके उसका महत्त्व बताइए।
१७. विज्ञानमय शरीर का वर्णन करके उसका महत्त्व बताइए।
१८. आनन्दमय शरीर का वर्णन करके उसका महत्त्व कहिए।
१९. अनुप्रश्न किसे कहते हैं? अविद्वान् मनुष्य मरकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, अथवा विद्वान्? विद्वान् मनुष्य ब्रह्म के विषय में क्या जाने?

२०. ब्रह्म अपने रचे जगत् में प्रविष्ट होकर सत् और त्यत्, निरुक्त और अनिरुक्त, निलयन और अनिलयन, विज्ञान और अविज्ञान, सत्य और अनृत कैसे होता है?

२१. ब्रह्मानन्द की मीमांसा कीजिए।

२२. भार्गवी वारुणी विद्या क्या है?

२३. अन्नोपासना का वर्णन कीजिए। उसके तीन सूत्र क्या हैं?

२४. अतिथि-सत्कार का व्रत क्या है? उसका क्या फल है?

२५. मानुषी समाज्ञाएँ क्या हैं?

२६. दैवी समाज्ञाओं का वर्णन कीजिए। उनकी उपासना का क्या फल होता है?

२७. परमेश्वर की विभिन्न नामों से उपासना का प्रतिपादन कीजिए। उसका फल भी बताइये।

२८. 'पुरुष में और आदित्य में एक ही परमेश्वर रहता है' इसकी स्थापना कीजिए।

२९. ब्रह्मज्ञानी की स्थिति का वर्णन कीजिए। उसके द्वारा गाया जानेवाला सामगान अर्थसहित लिखिए।

३०. 'ओं सह नाववतु' आदि शान्ति-मन्त्र की व्याख्या कीजिए।

अनीता आर्ष प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

क्रम	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१.	महर्षि दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य में समाज का स्वरूप	आचार्य डॉ० सत्यव्रत राजेश	२००/-
२.	वैदिक मम्पत्ति	पं० रघुनन्दन शर्मा	१५०/-
३.	वैदिक पुष्पाञ्जलि	आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार	१५०/-
४.	वैदिक प्रार्थना--सौरभ	आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार	१२५/-
५.	वैदिक विनय	श्री अभयदेव विद्यालंकार	१००/-
६.	वैदिक उपदेशमाला	श्री अभयदेव विद्यालंकार	२०/-
७.	वैदिक ब्रह्मचर्य गीत	" " "	३०/-
८.	पं० गुरुदत्त विद्यार्थी	डॉ० रामप्रकाश	५०/-
९.	यज्ञ-विमर्श	डॉ० रामप्रकाश	३०/-
१०.	चतुर्वेद शतक	स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती	२०/-
११.	तड़प वाले तड़पाती जिनकी कहानियाँ	प्रा० राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	३०/-
१२.	त्यागवाद	स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	१५/-
१३.	वैदिक वीर गर्जना	पं० रामनाथ वेदालंकार	२५/-
१४.	भारतीय साहित्य में विद्या का महत्त्व	ब्र० नन्दकिशोर	६/-
१५.	आर्य क्रान्तिकारी	ब्र० नन्दकिशोर	३/-
१६.	अष्टाध्यायी सूत्रपाठ (वार्तिक अष्टपाद सहित) अनुवृत्ति संस्कर्ता	श्री शंकरदेव पाठक	२०/-
१७.	ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप	डॉ० त्रिलोकचन्द	८/-
१८.	पं० देशबन्धु लेखावली	पं० देशबन्धु	६०/-
१९.	आर्यसमाज क्या है ?	पं० मनसाराम 'वैदिक तोप'	६/-
२०.	सत्यार्थप्रकाश (एक मूल्यांकन)	डॉ० सत्यव्रत 'राजेश'	२/-
२१.	स्वस्तिक चिह्न (ओ३म् का प्राचीनतम स्वरूप)	विरजानन्द दैवकरणि	५/-
२२.	मद्यनिषेध-शिक्षाशतकम्		१५/-
२३.	शतपथ-सुभाषित		१०/-
२४.	आनन्द शायरी बहार		१५/-
२५.	सामवेद-संहिता		३५/-
२६.	सत्यार्थप्रकाश (सर्वांगपूर्ण धर्मग्रन्थ)	डॉ० सत्यकेतु	५/-
२७.	वेदोपदेश	पं० राजाराम शास्त्री	३०/-
२८.	आध्यात्मिक उन्नति का सोपान-देवयज्ञ	अर्जुन देव स्नताक	५०/-

लेखक परिचय
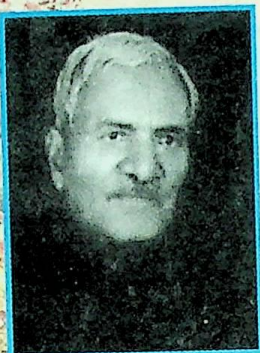
प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डा० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्यातिप्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं । आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर (बरेली), उ० प्र० में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ । शिक्षा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई । इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुल सचिव, अध्यक्ष वेद-कला-महाविद्यालय तथा आचार्य एवम् उपकुलपति का कार्य भी करते रहे । इस संस्था ने आपको 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि से भी सम्मानित किया । गुरुकुल में शिक्षक रहते हुए आपने आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम०ए० तथा पी-एच० डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं । आपका पी-एच० डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' हैं, जो प्रकाशित है । १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में **'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ'** के **प्रथम आचार्य** एवम् **अध्यक्ष नियुक्त हुए** । वहां से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थविचार । आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—**वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति, यज्ञ-मीमांसा तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य** । वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का **वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार**, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का **विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार**, समर्पण शोधसंस्थान द्वारा सम्मान तथा **महामहिम राष्ट्रपति द्वारा सम्मान एवं पुरस्कार** प्रमुख हैं । सम्प्रति आप निज रूप से वैदिक शोध एवं ग्रन्थलेखन में संलग्न हैं ।